Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाक्षिक

सारिका

जनवरी : अंक-२

विशेष -

काला आसमान, पेट की राजनीति और मेरा शहर : अजमेर

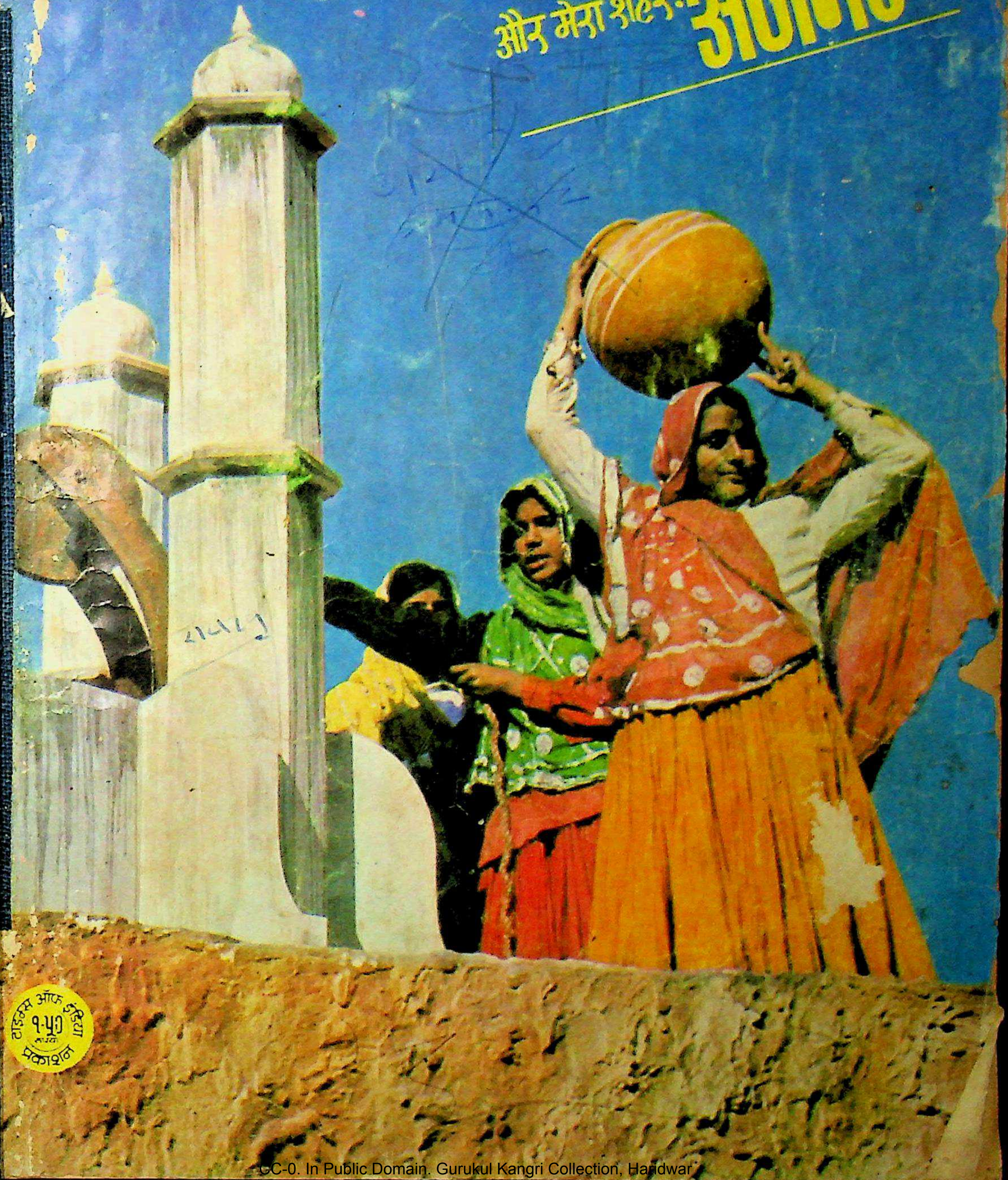

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर चुस्की में ताज़ा चुस्ती

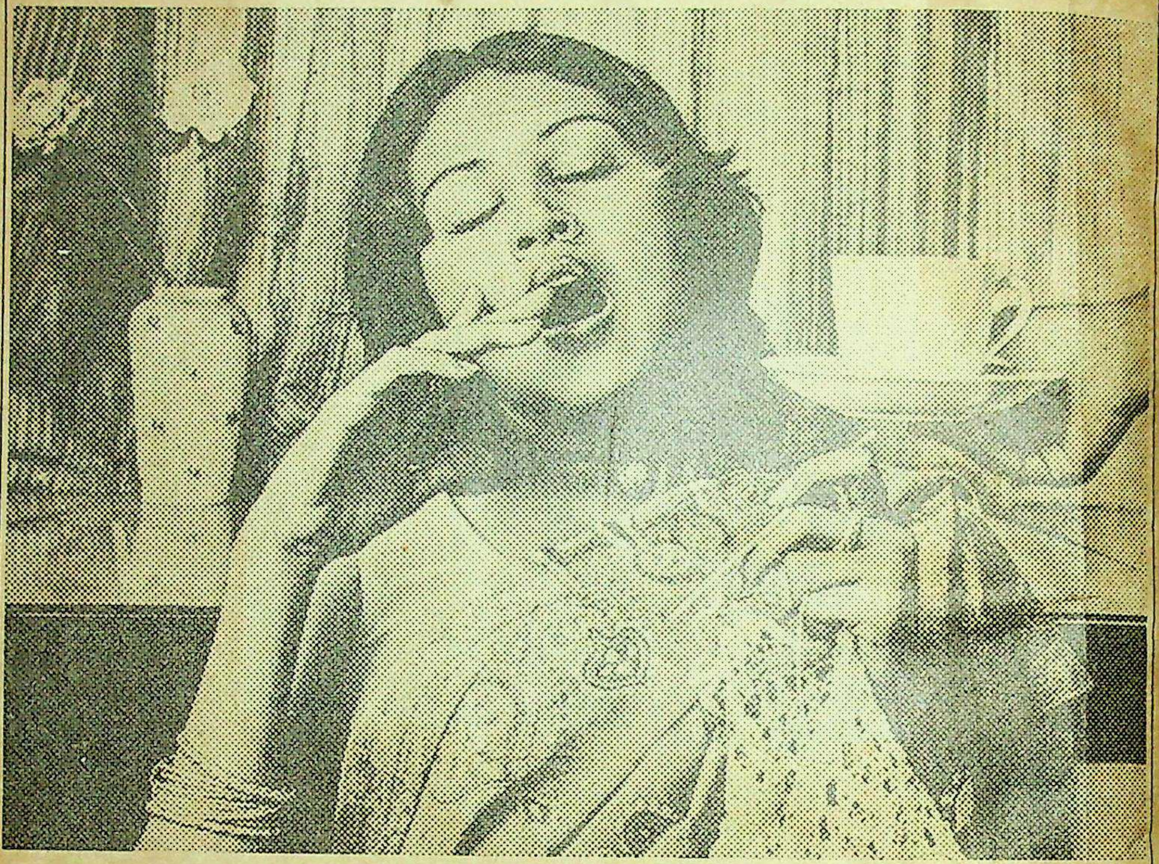

लिपटन रिचब्रू चाय से ताज़गी मिले, तबीयत खिले

तन जगाए, मन खिलाए ... लिपटन रिचब्रू.
गहरा गाढ़ा रंग, जानदार शानदार स्वाद.
मन आगे आगे, तन में ताज़गी जागे ···
जैसे आपको उमंगों में बहा ले जाय !

रिचब्रू ... 'जग जगाता' स्वाद

लिंटास-LRB. 8-203 HI (R)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Accn No
RT-0519
HL
SARIKA
1979
G.K.V.
Lib.
HARDWAR

आज के सर्वाधि… …टार
…इसी परम्परा में
गुलशन…
राजवंश…
मुसाफ़ि…
…1979
नई भेंट
स्टार पाकेट सी… …प में प्रस्तुत है :—
स्थायी उपन्यास…

क…
सा…
यह नई…
ह…
घटनाओं…
नये नये रो…
सीरीज़ के अन्तर्ग… प्रस्तुत करेगी
…ा
…थम

और साथ ही पढ़िये **यह नई स्टार बुक्स**

कामिनी	(उपन्यास)	राजवंश	४.००
इश्क़ पर ज़ोर नहीं	"	आदिल रशीद	४.००
काहे होत उदास	(उपन्यास)	गुरुदत्त	४.००
ठोकर	"	संगोता	४.००
वचन	"	मुसाफिर	३.००
सागर और सीपियां	"	अमृता प्रीतम	३.००
लाश का रहस्य	(जासूसी उपन्यास)	गुप्तदूत	३.००
दर्द की तस्वीरें	(उपन्यास)	कमल शुक्ल	३.००
अपने अपने साये	(उपन्यास)	आशा सिंह	३.००
जफ़र की शायरी	(उर्दू शायरी)	बहादुर शाह 'ज़फ़र'	३.००

सहेली
4/-

और स्टार की एक और
नई लाभप्रद योजना **स्टार बुक बैंक**
केवल 30/- देकर 60/- प्राप्त करें

इस योजना के अन्तर्गत केवल 30/- देकर प्रत्येक मास 8/- मूल्य के आपके प्रिय लेखकों के दो नये उपन्यास (डाक व्यय फ्री) छः मास तक घर बैठे प्राप्त करेंगे। इस प्रकार 30 रु० के बदले 48 रु० के उपन्यास एवं 12 रु० डाक व्यय अर्जित कर पायेंगे।

स्टार बुक बैंक की सदस्यता के लिए आज ही 30/- का मनीआर्डर भेजें या पहले मास के दो उपन्यास 30/- को वी पी पी से मगाने के लिए लिखें। तदोपरान्त 5 मास तक दो नये उपन्यास हर महीने घर बैठे प्राप्त करें।

सब के मनोरंजन के
लिये सर्वाधिक लोकप्रिय
स्टार बुक्स

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा०) लि०
आसफ़ अली रोड, नई दिल्ली-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज के सर्वाधि ... टार

गुलशन ... सी परम्परा में

राजवंश संगीता

मुसाफ़िर

स्टार पाकेट सीरीज़ के स्थायी उपन्यासकार हैं !

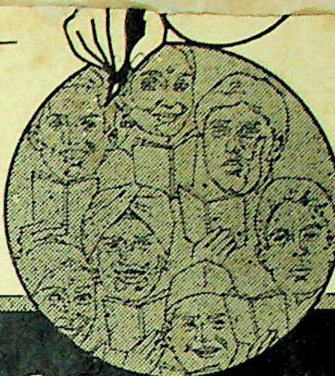

नववर्ष **1979** की नई भेंट के रूप में प्रस्तुत है :—

कल्पना

सामाजिक उपन्यासों की यह नई लेखिका अब आपके हमारे-सबके जीवन की घटनाओं एवं पात्रों को लेकर नये नये रोचक उपन्यास 'स्टार' सीरीज़ के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगी

कल्पना का नया प्रथम उपन्यास

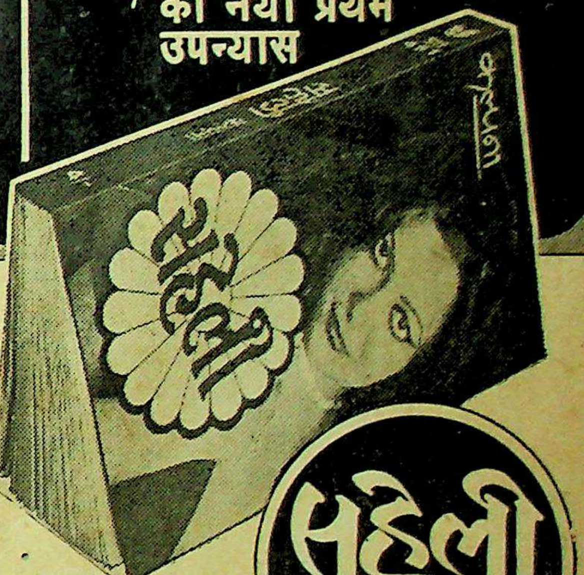

सहेली 4/-

और साथ ही पढ़िये **यह नई स्टार बुक्स**

कामिनी	(उपन्यास)	राजवंश	४.००
इश्क़ पर ज़ोर नहीं	"	आदिल रशीद	४.००
काहे होत उदास	(उपन्यास)	गुरुदत्त	४.००
ठोकर	"	संगीता	४.००
वचन	"	मुसाफिर	३.००
सागर और सीपियां	"	अमृता प्रीतम	३.००
लाश का रहस्य	(जासूसी उपन्यास)	गुप्तदूत	३.००
दर्द की तस्वीरें	(उपन्यास)	कमल शुक्ल	३.००
अपने अपने साये	(उपन्यास)	आशा सिंह	३.००
जफर की शायरी	(उर्दू शायरी)	बहादुर शाह 'ज़फ़र'	३.००

और स्टार की एक और नई लाभप्रद योजना **स्टार बुक बैंक**

केवल 30/- देकर 60/- प्राप्त करें

इस योजना के अन्तर्गत केवल 30/- देकर प्रत्येक मास 8/- मूल्य के आपके प्रिय लेखकों के दो नये उपन्यास (डाक व्यय फ्री) छ मास तक घर बैठे प्राप्त करेंगे। इस प्रकार 30 रु० के बदले 48 रु० के उपन्यास एवं 12 रु० डाक व्यय अर्जित कर पायेंगे।

स्टार बुक बैंक की सदस्यता के लिए आज ही 30/- का मनीआर्डर भेजें या पहले मास के दो उपन्यास 30/- को वी पी पी से मगाने के लिए लिखें। तदोपरान्त 5 मास तक दो नये उपन्यास हर महीने घर बैठे प्राप्त करें।

सब के मनोरंजन के लिये सर्वाधिक लोकप्रिय **स्टार बुक्स**

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा०) लि०
आसफ़ अली रोड, नई दिल्ली-110002

JUPITER

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

112927
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
112927

सारिका

जनवरी : अंक–दो,
१६ से ३१ जनवरी, १९७९
वर्ष : १९; अंक : २३५

कहानियों और कथा-जगत की जीवंत पाक्षिकी

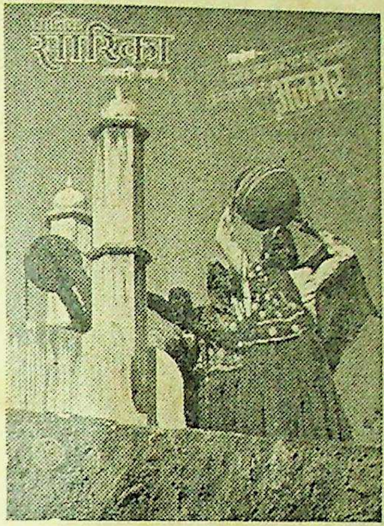

आवरण : एन. एस. ओलानिया

कहानियां

16. अजनबी होते हुए : बैकुंठनाथ मेहरोत्रा
20. टुकड़ा-टुकड़ा एहसास : यादवेंद्र शर्मा चंद्र
24. क्रिस्टोवल मिरांडा : प्रणवकुमार बंद्योपाध्याय
32. सहयोग : जीवनसिंह ठाकुर
58. घूंघट (पंजाबी) : कुलवंतसिंह विरक
64. कहां : कृष्ण गंभीर

ज़िन्दगीनामा : (अंतिम किस्त)

9. 'उजियारी चादर का सूत',
12. 'तेरी रहमतों के सदके' : कृष्णा सोबती

विशेष

40. ....ताकि सनद रहे (धारावाही) : रामकुमार भ्रमर
48. अभी मैं घर नहीं लौटा हूं : इलाचंद्र जोशी से केशवचंद्र वर्मा की बातचीत
51. मैं गरिमायुक्त स्वाभिमान के आगे समर्पित था : रमानाथ अवस्थी
55. शरत् ने गलत मनोवैज्ञानिक रास्ता पकड़ा : इलाचंद्र जोशी का पत्र राजेंद्र यादव के नाम

रिपोर्ताज

60. काला आसमान, पेट की राजनीति और मेरा शहर : अजमेर : ईश्वर चंदर

अन्य आकर्षण

6. पाठकों का पन्ना
19. आसपास बिखरी कहानियां
23. ग़ज़ल : बालकवि बैरागी
31. आज की संपूर्ण स्थिति और लेखन : विभु कुमार
37. स्याह हाशिए : ब्रजेश्वर मदान
38. लघुकथाएं
39. तस्वीर बोलती है : सतींद्र कुमार चड्ढा
68. पखवारे की पुस्तकें : ममता कालिया, डॉ. हरदयाल
72. नजरिया-नजरिया

संपादक :
कन्हैयालाल नंदन

उप-संपादक :
अवधनारायण मुद्गल,
रमेश बत्तरा,
सुरेश उनियाल

सज्जा : रवि शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकों का पन्ना

टाल गये

साक्षात्कार के अंतर्गत राहीजी का स्वयं का यह स्वीकारना कि "जब तक जरूरी न हो थोड़ा पढ़कर (हिंदी) टाल जाना" से लगता है उन्होंने प्रेमचंद को ठीक से पढ़ने की कोशिश नहीं की (टाल गये). नहीं तो वे प्रेमचंद को "रियलिस्टिक" कम और रोमांटिक ज्यादा नहीं कहते.

■ **यशवंत, सिन्दरी (बिहार)**

सांप्रदायिक समस्या का कांग्रेस मार्का हल

सारिका के दिसंबर अंक-1 में प्रसिद्ध लेखक राही मासूम रज़ा के लंबे साक्षात्कार पर टिप्पणी करना चाहता हूं. विश्वनाथजी ने उन्हें सही मुद्दों पर पकड़ा है.

राही साहब का यह कथन सही है "संप्रदायवाद हमारी पिछड़ी हुई आर्थिक स्थितियों की देन है, इसलिए इसे हिंदू या मुसलमान में बांटना भी ग़लत है." लेकिन स्वयं उन्होंने अपने उपन्यासों में हिंदू संप्रदायिक मनोवृत्ति को संतुष्ट करने की वृत्ति का परिचय दिया है.

पहली बात तो यह है कि उन्होंने मुस्लिम समुदाय के उच्च-मध्य वर्ग के सामंती ढांचे के पतनशील चरित्रों को मुस्लिम प्रतिनिधि पात्रों के रूप में चित्रित किया है, जो कि कतई विशाल मुस्लिम बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं करते.

ऐसा करते हुए उन्होंने जाने-अनजाने हिंदू सांप्रदायिकता के सामंती सोच को ही खुश करने का प्रयत्न किया है. वे इसमें सफल भी हुए.

उनके शेरवानी व चूड़ीदार पहने और उर्दू बोलते हुए हिंदू पात्र और ईद-होली के दिन हिंदुओं से गले मिलते हुए मुस्लिम पात्र बेहद नकली लगते हैं. संप्रदायिक समस्या का कांग्रेसी मार्का 'धर्मनिरपेक्ष' हल वे दिखाते हैं और इसका पर्याप्त फ़ायदा उठाते हैं. जबकि मुस्लिम समाज की आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को वे ज़रा भी नहीं छूते.

यह विशाल समुदाय आज भी उसी प्रकार उपेक्षित है जैसा कि आज से तीस साल पहले आज़ादी मिलने के वक्त था. पिछले तीस साल की राजनीति कभी मुस्लिम संप्रदायिकता, तो कभी हिंदू संप्रदायिक ताकतों को खुश करके वोट बटोरने की राजनीति रही है.

राही साहब उसी श्रेणी के साहित्यकार हैं.

प्रेमचंद के "रंगभूमि" उपन्यास पर सतही ढंग से टिप्पणी उन्होंने की है. जहां तक "गोदान" के "रोमांटिसिज़्म" का प्रश्न है वह यथार्थ-आच्छादित है. और तत्कालीन सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा सीमित भी है. लेकिन "आधा गांव" का रोमांटिसिज़्म तो पतनशील सामंती ढांचे के प्रति रोमांटिक लगाव का द्योतक है. "गोदान" की आंचलिकता प्रमाणिक है तो "आधा गांव" की आंचलिकता सीमित व विकृत है.

■ **शाकिर अली, बिलासपुर (म. प्र.)**

राही साहब की थकावट देखिए

पत्र राहीजी के उत्तर से ही प्रारंभ करता हूं, "आपका विरोध जनसंघ से?"

"नहीं, सिर्फ़ जनसंघ से नहीं. मैं जमाते-इस्लामी और जनसंघ दोनों का विरोधी हूं. ये दोनों सांप्रदायिक हैं और संप्रदाय धर्म को "एक्सप्लायट" करता है, उसका ग़लत लाभ उठाता है."

उपरोक्त विचार राही साहब के फिर पढ़ने को मिले, बड़ा अच्छा लगा. इसी संदर्भ में बहुत पहले शायद "भिवड़ी" कांड के बाद सारिका में ही पढ़ने को मिला था.

उसमें भी उन्होंने बड़ी साफ़गोई के साथ अपनी बात कही थी और संप्रदाय को दोषी ठहराया था. अलीगढ़ मु. वि. वि. के बारे में उनके विचार थे कि यह संस्था क्यों न सभी धर्मावलंबियों के तलवाओं को समान रूप से तालीम पाने का अधिकार दे. यह एक राष्ट्रीय संस्था है जिसमें राष्ट्र (जनता) का धर्म समान रूप से सहयोगी है. किसी खास धर्मावलंबी के लिए बांधकर रखना श्रेयस्कर नहीं है.

राहीजी के ऐसे तमाम विचारों से मुझे ऐसा लगता है कि अगर हर धर्म के लोग अपने को थोड़ा-सा इधर-उधर खिसका कर चलें तो भारतीय जनता एक ही राष्ट्रीय धारा में जुड़ सकती है.

पर राहीजी जैसे लोग नाम निहाद हैं और जो लोग हैं भी, वे भी प्रयासों से थके से लगते हैं. अब राही साहब की थकावट देखिए (सारिका चर्चित अंक) "आधा गांव" छपने पर मुसलमानों की प्रतिक्रिया ने ठेस पहुंचायी तो वे हार गये. जब समझाने की बात चली तो कहते हैं

"मैं समझाता नहीं, अपनी बात कहता हूं. वक्त भी कहां है समझाने का और फिर मैं तो यह मानता हूं, समझाना शुरू करके स्वयं अपना अपमान करूंगा. उतने समय को लिखने में नहीं लगाऊंगा?"

मैं आशा करता हूं कि राहीजी समय-समय पर इसी राह पर अपनी लेखनी द्वारा अवश्य दिशा-निर्देश देते रहेंगे. समान विचार वाले और भी लोग अगर इस मुहिम से जुड़े तो राष्ट्रीय हित होगा.

■ **यादव बच्चन आज्मी, ओबरा, मिर्जापुर (उ.प्र.)**

राही का तेवर

साक्षात्कार के अंतर्गत जनाब राही मासूम रज़ा से लंबी और बेलाग बातचीत बहुत पसंद आयी. राही साहब के लेखन की एक अपनी शैली है, अपना तेवर है, अपना अंदाज़ है.

सही बात को वे घुमा-फिरा कर नहीं कहते, स्पष्ट रूप से स्वीकारते हैं और अपने पक्ष का दृढ़तापूर्वक औचित्य सिद्ध करते हैं. ये सब बातें राही साहब को एक अच्छा लेखक ही नहीं, एक अच्छा इंसान भी साबित करती हैं.

■ **हरीश जी. करमचंदाणी, सिंधुनगर, जोधपुर (राज.)**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पलायन उचित नहीं

दिसंबर अंक-1 में विश्वनाथ के साथ मासूम साहब की लंबी बातचीत को पढ़ा. कम्युनिज़्म के संबंध में मासूम साहब के विचार जानकर प्रसन्नता हुई. देश के साहित्यकारों की बड़ी भूमिका होती है किसी भी रचनात्मक कार्य में! आम लोगों की मनोवृत्ति को सही दिशा देने का जिम्मा इन्हीं पर होता है. फख्र की बात है मासूम साहब ने अपने पर "हिंदू" होने के आरोप को भी राष्ट्रीयता के नाम पर मुस्कराकर छोड़ दिया.

पर मैं एक बात कहूंगा. क्या सैद्धांतिक आधार पर भावनात्मक प्रवाहों को भी रोका जा सकता है? यदि ऐसा हो भी सके तो क्या ऐसा सिद्धांत ग्राह्य होगा? क्या प्रेमचंद को इस आधार पर दोषी समझा जाना चाहिए कि उन्होंने तत्कालीन समाज का सही रूप प्रतिबिंबित किया है? (जो वह चाहते भी थे.) रज़ा साहब को "रंगभूमि" के आधार पर प्रेमचंद को नापसंद करने का कोई कारण समझ में नहीं आता. लेखकों को आशावादी, काल्पनिक और संश्लेषणात्मक होना चाहिए, ठीक है पर, रोमांटिक (अंग्रेज़ी) कवियों, लेखकों की तरह पलायन भी तो उचित नहीं है. यथार्थ-यथार्थ है!

"नश्तर" और **"सवारियां"** में नयापन नहीं था. पानू खोलिया की दो किस्तों वाली कहानी **"अन्ना"** अति सुंदर लगी. कहानी पढ़कर एक बेचैनी महसूस कर रहा था—घुटन-सी महसूस हो रही थी. शायद इससे बचने का कोई रास्ता भी तो सामने नहीं था. अन्ना और प्रोफ़ेसर के माध्यम से आधुनिक 'सभ्य' शहरी समाज का अद्वितीय चित्र प्रस्तुत किया है पानू जी ने!

■ **प्रमोद कुमार झा, डोरंडा, रांची**

अंदाज़ भी फिल्मी, विचार भी!

"सारिका" के दिसंबर-1 अंक में राही मासूम रज़ा का साक्षात्कार पढ़ा. राहीजी फिल्मी लेखक हैं, विचारों से भी और अंदाज़ से भी. इन्हें गुलशननंदा जैसे व्यवसायी लेखकों की श्रेणी में रखना उचित होगा. सार्त्र, इकबाल और प्रेमचंद जैसे विश्व-विख्यात साहित्यकार इन्हें पसंद नहीं हैं. इसका कारण स्पष्ट है. न तो इन जैसा लिखने की राहीजी में प्रतिभा है और न ही इन्हें समुचित रूप से समझना इनके वश की बात है.

■ **प्रो. रामनिवास "मानव", लाडवा (कुरुक्षेत्र)**

....तो निंदा करो!

"सारिका" दिसंबर-1 को छोड़कर बाकी सभी अंकों के संपादन के लिए बधाई. इस अंक की कहानियां "जीवंत" तो कदापि नहीं थीं.

"रंगभूमि" में प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम लड़के-लड़की का प्रेम तो करा दिया, पर उनके भीतर के कांग्रेसवाद ने उन दोनों की शादी नहीं होने दी ....." राहीजी का यह कथन पढ़कर मुझे वही कहावत याद हो आयी, जिसमें कहा गया है अगर कोई तुम्हारी बात न सुने, तो निंदा करो! मैंने (पुनः) **रंगभूमि** पढ़ा—इस बार चश्मा उतारकर (मैं मायोपिक हूं)—पर उसमें कहीं हिंदू-मुस्लिम लड़के-लड़की के प्रेम के चित्रण की बात तो दूर, ऐसे पात्र भी न मिले. हां, एक क्रिश्चियन लड़की है, जिसकी शादी हिंदू लड़के से केवल इसलिए नहीं हो पाती है कि पात्र एवं परिस्थिति की मांग थी—"विनयसिंह" की मौत. (आखिर राही जी भी स्वीकार करते हैं—मेरे लेखन का केंद्र मनुष्य है, करेक्टर है. यदि प्लाट भारी पड़ गया तो इस करेक्टर को विकास का मौका नहीं मिलेगा .....) और प्रेमचंद ने केवल उक्त करेक्टर को जीया भर है.

"गोदान" के ग्रामीण-चित्रण में उन्हें रियलिज़्म कम, रोमांटिसिज़्म ज्यादा दिखा. पर मेरा एक सवाल राहीजी के मुखातिब—क्या राहीजी ने गांव देखा भी है? अगर हां, तो....ओह! मैं भूल ही गया था—**"आधा गांव"** के पात्र आपस में गाली-गलौज कर सकते हैं, पर "पूरे" गांव के लोगों में अनैतिकता की वास्तविकता नहीं, रोमांटिसिज़्म ही हो सकता है.

इसी प्रकार गाडगील साहब भी कह चुके हैं—प्रेमचंद से ज्यादा उन्हें शरत् बाबू प्रभावित करते हैं .... उफ़्! उन्होंने प्रेमचंद को बहुत थोड़ा पढ़ा है.....कैसी विडंबना है!

■ **विजय कुमार पंजियारा, पटना (बिहार)**

बनावट की दीवार

"मैं पचास फुट के सहारे ज़िंदा हूं." साक्षात्कार काफ़ी उबाऊ लगा. हर जगह बनावट की दीवार खड़ी महसूस होती है. लघुकथा **"नीली छत वाली मां"** वास्तव में ऐसे कितने ही दुधमुंहे बच्चों के साथ यह कहानी घटती है. इसे पढ़कर मानो दिल में एक अजीब रोमांच हो जाता है.

■ **श्री नारायण प्र. अमानी, सीतामढ़ी**

शिकायतों की दास्तान

"साक्षात्कार" में डॉ. राही मासूम रज़ा से विश्वनाथ की बातचीत सिर्फ़ शिकायतों की दास्तान है. पारिश्रमिक को लेकर "सारिका" से शिकायत, पुरस्कार न मिलने के लिए साहित्य अकादमी से शिकायत और राजनीतिक स्तर पर अनेक पार्टियों से शिकायत.

पर इससे अलग भी कुछ है—शेक्सपीयर, सार्त्र, इकबाल, कमलेश्वर और नागार्जुन के प्रति रज़ा की नापसंदगी. पर बात यहीं खत्म नहीं होती. प्रेमचंद की जैसी दुर्गति का प्रयास उन्होंने किया है, वह अक्षम्य लगता है. क्या प्रेमचंद किसी राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रेरित थे? क्या प्रेमचंद की **"रंगभूमि"** का आधार वैसा था जैसा राही मासूम रज़ा की कल्पना में समा गया है? **"गोदान"** उन्हें जैसा भी लगा हो, उसकी रेटिंग कर देना क्या इतना सहज है? और अंत में विश्वनाथ के अंतिम सटीक सवाल पर यह कहना, "अरे नहीं, मैं बुरा लिखता ही कब हूं." राही मासूम रज़ा का पूरा व्यक्तित्व ही उजागर कर देता है.

■ **सुधाकर झा, दामोदर घाटी परियोजना, कलकत्ता.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

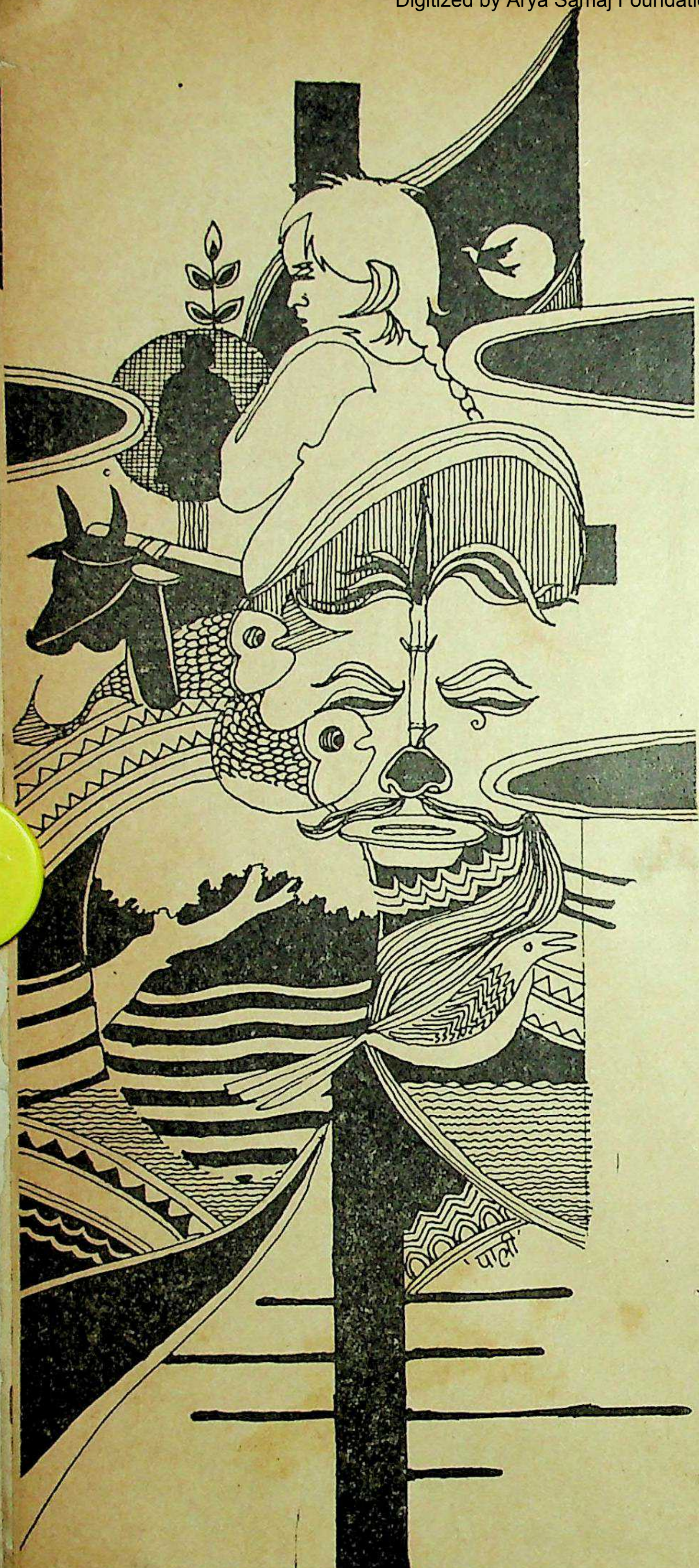

ज़िंदगीनामा

• कृष्णा सो

अनखोया बचपन––कविता की उम्र जितना बुलंद, कथा कहने की परंपरा जितना रोमांचक. जिसकी महायात्रा का किस्सा न दादी जानती है, न नानी! पूछे पता नहीं लगता, जाने जानकारी नहीं. . .. तब उकर आते हैं स्मृतियों के खलिहान में कई-कई झरोखे और उनमें झांकता है गांव-गवारी का मीठा बचपन, चुलबुली वयसंधि. . . कहीं रेत के घरौंदे उसारती और कहीं अजनबी क्षणों को बिसारती! पर मदरसे की घंटियां दस्तक दर दस्तक देने से बाज नहीं आतीं––रब्बा-रब्बा मीहं वसा, साडी कोठी दाने पा! . . . वे अठखेलियां जो कभी दुलारती हैं, तो कभी झकझोर जाती हैं. . . . सोचते न सोचते एक पौध-सी रोपित होने लगती हैं और अपनी खट मिठियां अदाओं से बन जाती है एक जिंदा दरख़्त. . . जिनकी टहनी-टहनी, पत्ता-पत्ता सुख देता है. . . उसी सुख को 'वंड' खाद्धा, खंड खाद्धा, यानी जो बांटकर जीया वही मीठा की इच्छा से कृष्णा सोबती हम सबके साथ बांट रही हैं, अपने नये उपन्यास 'ज़िंदगीनामा' में.

इस उपन्यास पर उन्होंने किस प्रकार जुट कर काम किया है, एक छोटे से छोटे तथ्य को जांचने के लिए कितने घंटे नियमित राष्ट्रीय अभिलेखागा के पुस्तकालय में बिताये हैं, कितनी स्याही की बोतलें, पेन की नोक से होती हुई कागज़ों पर खाली हो कर उन की मेज़ के आसपास जमा होती गयी हैं. और इस उपन्यास के बारे में कुछ भी कहने में वे कितना कतराती रही हैं, उसकी एक अलग कहानी है. अभी तो सिर्फ़ इतना ही कि उन्होंने इस उपन्यास के लगभग चार सौ पृष्ठ छप जाने पर उसे वापस ले लिया था. . . दुबारा लिखने के लिए. वर्षों के अंतराल के बाद आ रही उनकी इस कृति के कुछ चुने हुए अंश––मदरसा, मुज़रा, मुबारकें, अल्लाह के फ़ज़ल से 'सारिका' के पाठक पढ़ चुके हैं. इस बार पढ़िए दो और महत्वपूर्ण अंश.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औक़ात
न क़लम की
न लेखक की
न लेखन की
ज़िंदगी ख़ुद-ब-ख़ुद
फैलती चली गयी
काग़ज़ के पन्नों पर
कुछ इस तरह
ज्यों धरती में उग आया हो
गहरी जड़ों वाला
विशाल ज़िंदारुख़

एक

उजियारी चादर का सूत

शरद पुण्या की रात!

पिण्ड के कच्चे कोठे चम्म-चम्म चमकने लगे. दमकने लगे. चान्ननी ने सजरी लिपाई से खेत-खलियान, रूख-वृख सब उजरा-उजला दिये.

कूओं के मिट्ठड़े सुर झलमल-झलमल हियरों को हुलसाने लगे.

बेटों-बच्चड़ों के साथ घरों को लौटती बलदों की जोड़ियां जी की तृखा-प्यास जगाने लगी.

चूल्हों से उठती उपलों की कच्ची गंध हर कोठे, हर चौके को महकाने-लहकाने लगी!

रब्बा ये सोहणे समय मनुक्खों के साथ लगे रहें. सजे रहें.

चिट्टी दूध चांदनी में तुरकी बुलबुलों की डार पंख फैलाये अपनी लंबी उडारियों पर.

"लो एक और आया झुंड."

"बग्ग है कि टोका?"

"टोका है."

"न, बग्ग है."

"वीरजी, ये कहां जा रही हैं उड़कर?"

मिट्ठी के भाई मेहरबान ने सिर पर लाड़ से दो धप्पे दिये—

"सुन न, ये चोग के लिए आयी थीं हमारे पिण्ड. चुग्गा जुटाकर अब जा रही हैं तेरी ससुराल."

"हट परे वीरा!"

मींडियों गुंथे सिर पर चौंक फूल डाले मिट्ठी ने भाई की बांह पर चूंडी भर ली. फिर दंदियां झकाकर कहा—

"मंगनी मेरी हुई है कि तुम्हारी! बताऊं तुम्हारी लाड़ीजी का नाम. डोडो-डोडो...."

"चल मरजानी!"

शाहों के कोठे पर कुडियों-चिड़ियों के झुंड खेनू खेलने में मग्न थे. छलांग मार मिट्ठी उनमें जा मिली—

आल थाल
पहला थाल
मां मेरी के
लंबे बाल
कूएं हेठ पानी
मां मेरी रानी
काढ़ेगी कसीदड़ा
दूध पाय मथानी!

ऊपर माउंटीवाले बनेरे पर बांहें फैलाये लड़के दरिया की सीध देखने लगे.

"वह देखो अल्लाह रक्खे की बेड़ी—वह किनारे लगी शाहों की."

वह बीच भंवर में दरिया पीर ख्वाजा खिज़र की बेड़ी झूलती रहती है.

किसी को दिखती नहीं है, पर होती ज़रूर है!

पीछे से आ चन्नी ने भाई का कुरता खींच लिया—

"मुझे भी दिखाओ न वीरजी. दरिया पीर की बेड़ी क्या कभी नहीं डूबती!"

"हाथ जोड़ दे चन्निये. ख़्वाजा खिज़र ज़िंदगानी के पीर हैं. आप ही दरियाओं में भंवर डालते हैं और आप ही बेड़ियों को पार उतारते हैं."

चन्नी ने आंखें मूंद दरिया की सीध हाथ जोड़ दिये.

"देखो, देखो, दरिया में दो चांद हैं. दो नहीं. एक ऊपर आसमान पर और एक थल्ले पानी में."

"ऊपर वाले का लिशकारा है. जा चन्नी, शाहनी से कांसी का कटोरा लेकर आ. ऊपर वाला चांद हाथ में पकड़ा दूंगा."

खुल्लरों की निक्की और पास ढुक आयी—

"कटोरा मुंह को लगाकर मैं चांद को पी जाऊंगी."

जितने कांसी का कटोरा आये, घोलू ने बंद मूठ में से पंजीरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का फक्का मार लिया.

खुशबू आते ही लड़कों ने घेर लिया—

"तेरी मां ने पुण्या का व्रत रखा है क्या?"

"न, निक्की बेबे बांट रही है सबको."

"चलो भई, चलो निक्की बेबे के अंगना."

चांद-कटोरा भूल-भाल लड़के कोठों पर कुलांचे भरते चले.

मोहरे की बेबे से हांक पड़ गयी—

"अरे कख न जाये तुम्हारा, नीचे मिट्टी झड़ती है. कहीं रण जीतने तो नहीं जा रहे!"

मंजी पर चौकड़ी मार लाला वड्डे दूध-परांठा खाकर तृप्त हुए ही थे कि बानरों की टोली आ प्रकटी.

"बेबेजी, प्रसाद. बेबेजी पंजीरी."

"आओ मेरे बच्चड़ो, आओ! निक्किये, बालड़ों को बैठने को खीड़े दो. आसन दो."

बेबे निक्की खुश हो-हो गयी—

"साइंया, आज सारा आंगन सुच्चा है. सजरी लिपाई की है. इनका जहां मन आये बैठें."

लड़कों के पीछे-पीछे लड़कियां भी घिर आयीं.

"बेबेजी, प्रसाद खत्म तो नहीं हो गया?"

"न री न! प्रसाद में बहुत बरकत."

मुंह मीठा कर बच्चे लालाजी के पीछे पड़ गये.

"लालाजी कहानी. लालाजी बुझारतें. लालाजी कोई किस्सा."

लाला वड्डे की अंखियों के आगे अपने बचपन की पुण्या उतर आयी. हंसकर कहा—

"पुत्रजांजी, बाबा पीरनेवाली बेरियों पर बेर झाड़ने कौन-कौन जाता रहा."

"लालाजी, वहां कैसे जाते. वहां तो कुत्ता पड़ता है."

"पुत्रजांजी, बेरियों पर कुत्ता ज़रूर पड़ेगा, नहीं तो बेरियां अब तक खाली न हो जातीं. रखवाले न होते बेरियां के तो तभी खाली हो जातीं जब मैं छोटा था."

सुनारों के सुथरे की आंखें फैल गयीं—

"लालाजी, क्या बाबा पीरना तब भी अपने हाथ में लंबी डांग लिये बैठा रहता था!"

मां सदके गयी—

"अरे, पीरना नहीं उसका दादा. मेरे बच्चड़ो, रूख वही रहता है, उसके रखवाले बदलते रहते हैं."

"बेबेजी, हम तो तूत खाने जाती हैं."

"सो भला धियो, जब तक इस ग्रां का दाना-पानी है खूब खा लो. फिर तो जा बैठोगी अपने सासरे."

सिर पर किड़े और मीडियों के जाल बिछाये कंवारियां शरमा-शरमा हंसने लगीं.

"पुत्तो, एक बात तो बताओ, ये सेव-बेरों वाली बेरियां भला किसने लगवायी थीं?"

लसूड़ेवालों के चौखे ने मुण्डी हिलायी—

"लालाजी, मुझे पता है."

"चन्नमल्ल के भाईया, यह तो तुम्हारा भी पुरखा जम्म पड़ा. बोलो पुत्रजी, बोलो!"

"लालाजी, अब वाले बाबे पोरने के दादे के दादे ने रोपी थीं ये बेरियां. इन बेरियों के बूटे पंचनद से आये थे. तभी इनका फल इतना मीठा घुट्ट है."

बच्चों ने रौला डाल दिया—

"लालाजी कहानी. लालाजी आख्यान."

"चंगा. सुनो मेरे बच्चो, जिसे हाजत हो वह हो आये, जिसे प्यास हो वह पी आये—बीच में से उठने की मनाही है."

भाई को कुच्छड़ में उठाये शानो चुपके से उठी और कोठे-कोठे जनानियों को बुलावा दे आयी—

"निक्की बेबे के घर कथा हो रही है. सबको बुलाया है."

शानो वापस आयी तो सब चाचियां-ताईयां एक गोटठ में जुटी बैठी थीं.

"सुनो मेरे बच्चडो, हर पुत्र अपने पिता का अवतार होता है."

लड़के अपने-अपने सिरों को छूने लगे, "जी मैं भी—मैं भी—मैं भी—"

कालू उठ खड़ा हुआ—

"बेबेजी, मैं भी तो!"

"बलिहारी जाऊं पुत्र, तू क्यों नहीं, तुम भी!"

"हर बंदा अपने पिता का अवतार है. याद रखो. अवतार वह जिसके दो हाथ हैं. अवतार वह जिसके दो पांव हैं. अवतार वह जिसका मुंह-माथा है. धड़ है. आगा है. पीछा है. मेरे बच्चो, अवतार वह जो धरती हल से जोतकर पानी से सींचता है. तृप्त करता है. बीज बोता है. फसलें उगाता है."

आगे सुनो . . . .

सबसे पहला अवतार हुआ आदि-पुरुख प्रजापति.
प्रजापति आप ही नर था. आप ही नारी था.
उसने आप ही अपने को दो हिस्सों में बांटा.
एक हिस्से से पैदा हुए बल्द. दूसरे से उत्पन्न हुई गऊ माता.

"लाला जी, गाय और बल्द दोनों भाई-बहन है न?"

"यही समझ लो."

थल्ली वण्डवाले जगतार का ध्यान कहीं और जा भटका—

"न जी, दोनों नर-मादा हैं. गाय बल्ले से ही तो ब्याही जाती है."

दूर बैठी जगतार की बहन दीपो ने उठकर दो-चार कसे हाथ भाई की पीठ पर दिये—

"चुप कर, बीच में नहीं बोलते!"

लालाजी ने हाथ से रोक दिया—

"बस जातको. आगे सुनो . . . फिर पैदा हुआ रूख. सृष्टि-रूख!"

"जी, बल्द और गाय इसकी छांव में बैठ सकें—इसलिए न!"

भोलू क्यों पीछे रहे! आगे होकर बोला—

"कौन-सा रूख था यह भला? पीपल, बोढ़, धरेक कि कीकर!"

मिट्ठी को सूझ गया—

"लालाजी, अपने पीपल वाले खू का पीपल होगा. कितनी बड़ी-बड़ी जटाएं चढ़ी हुई हैं इस पीपल पर."

"बच्चो, यह रूख हमारे सब रूखों से बड़ा था. इतना बड़ा कि गउओं और बल्दों के बड़े-बड़े झुंड इसके नीचे आ ढुके. इसी सृष्टि-रूख से भूलोक उपजा. यह पृथ्वी, धरती हमारी. फिर उपजीं चार दिशाएं और फिर बना आकाश. जब यह सब कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थित हो गया तो फिर जन्मा अदिति को दक्ष.

"पीछे-पीछे इसके देवता जन्मने लगे."

"लालाजी, इस तरह तो हम ही हुए न देवता! हम ही हुए न अवतार!"

लालाजी ने उंगली हिला दी, "न पुत्रजी, देवता अपने मुंह से अपने आपको कभी देवता नहीं कहते. अपने मुंह अपनी बड़ाई कभी नहीं करनी."

"हां तो माता अदिति सारे ब्रह्माण्ड की माता है. अदिति आकाश भी है. अदिति धरती भी है. इन दोनों के ऊपर, आगे जो कुछ भी है वह भी अदिति है."

बड़े बेटे चन्नमल्ल का निक्का, दादे का मुकाबला करने लगा.

"लालाजी, क्या ध्रुवतारा भी अदिति है! सात तारों की बहंगी भी अदिति है! मैं भी अदिति हूं! आप भी अदिति हैं! नदियां भी अदिति हैं! कूएं भी अदिति हैं!"

निक्के के चाचा भागमल्ल ने कान मरोड़ दिया, "बीच में नहीं बोलते."

"जातको, देवताओं की तीन पांतें हैं—

पृथ्वी के देवता

आकाश के देवता

बड़े मंडल के देवता."

मदरसे में पढ़ते बोद्धे को चमकार हो गया—

"लालाजी, हर कोई मरकर बड़े मंडल में ही जाता है. वड्डे-वड्डेरे जब पूरे हो जाते हैं न तो ऊपर वाले मंडल में जा बैठते हैं. आकाश-गंगा के किनारे मंजियां बिछी हैं. उन्हीं पर बैठ कर सब दादे-नाने हुक्का पीते रहते हैं. नानियां-दादियां पीढ़ियों पर बैठकर चरखे कातती हैं."

बोद्धे की मां ने दूर से हाथ दिखाया, "चुप कर."

"बच्चो, जुग चार होते हैं—

सोता हुआ कलजुग

छोड़ता हुआ द्वापर

खड़ा हुआ त्रेता और

चलता हुआ सतजुग!"

घोलू की फिरकी फिर घूम गयी—

"सतजुग रेलगड्डी पर चढ़ता है, घोड़े पर कि डाची पर?"

"पुत्तरजी, जुग समय के चक्कों पर चलते हैं. गाड़ी में सिर्फ़ जात्रा होती है. सफ़र होता है. भला किसी ने देखी है गडडी!"

गीडे ने हांक मार दी—

"लालाजी, मैंने देखी है. मामे के व्याह में मैं लालामूसा गया था."

"अच्छा है. वाह भला."

"याद रखो, सूरज सारी दुनिया, लोक-परलोक, ऊपर-थल्ले में, धरती-आकाश में सबसे बड़ा है. वह सच्ची-मुच्ची का महाराज है. ब्रह्माण्ड का सरताज सम्राट है."

"अब सुनो कथा सूरज की धी-धीयानी की.

"सूरज ने अपनी धी सूरजा ब्याही आकाश को तो सूरज महाराज ने इतनी बड़ी उजियारी चादर धी-जमाई को दी कि वह सारे मंडल में बिछती चली गयी."

चन्नी बोली—

"लालाजी, उस चादर का सूत किसने काता था? सूरजा की दादी ने कि नानी ने!"

बेबी निक्की बड़े लाड़ से हंसी, "ले री, सुन बंतिये, अपनी धी की बातें. पूछती है सूत किसने काता था. फिर पूछेगी उसकी जोड़े की फुल्कारी किसने काढ़ी थी."

"आगे सुनो—

"चादर आगे-आगे और उस पर ठुमक-ठुमक गउओं के झुंड-के-झुंड. पीछे सुनहले रथ में जुटे थे नीले घोड़े. बारह. एक-से-एक बांका. मंडल का शृंगार."

चन्नी की छोटी बहन छबी सूरजा पर अटक गयी.

"बेबेजी, सूरजा की बांहों में लाल चूड़े, चांदी के कलीरे, माथे पर दौनी, सिर पर चौंक-फूल, ऊपर किनारी के बंदोंवाली ओढ़नी झम्म-झम्म करती! किस रंग का जोड़ा था भला उसका लालाजी! लाल कि गुलाबी?"

"सिरमुनिया, इधर तो आ!"

बेबे ने सिर पर प्यार फेरा—

"ले देख ले लाजवंतिये, अभी से तेरी धी का दिल अटका पड़ा है चूड़े-कंगन में. इसे संग छोड़ जल्दी से."

"बारह घोड़ों वाला रथ चलता रहा—चलता रहा. आकाश और सूरजा लगाते चले चक्कर पूरे ब्रह्माण्ड के चौतरफ़ा."

"जी, घोड़ों पर पलाने पड़े थे कि काठी सजी थी!"

"मेरी बच्ची, घोड़ों पर पड़े थे सतरंगी पलाने और उनके पैरों में हवा की झांझरें."

"फिर क्या हुआ लालाजी?"

"सूरजा को लड़का हो गया अगनकुमार!"

बड़ी-बड़ी आंखों वाली मिट्ठी की मां को कुछ दिन पहले लड़का जन्मा था. मिट्ठी ने फ़िकर से पूछा—

"अगनकुमार रथ में ही जन्म पड़ा! रथ में कैसे लेटी सूरजा! क्या उसमें मंजी बिछ गयी थी!"

चाची महरी ने पीछे से टनोका लगाया—

"चुप री, पहले लालाजी की बात सुन."

मिट्ठी न मुड़ी—

"तो और क्या, कोठड़ी-पसार न होगा तो कैसे जापा पाया सूरजा ने!"

चाचियां-ताईयां ठुड्डियों पर हाथ रखे मन-ही-मन हंसती चलीं. थनों पर फूल उगने लगे.

"पुत्तरो, ध्यान से सुनो. अगनकुमार सूरज वड्डे का दोतरा और समुद्रों का पोतरा."

"जल का पुत्र अगनकुमार कैसे हुआ लालाजी!"

"अगनकुमार का पिता अंतरिक्ष और समुद्रों का स्वामी. सो जब जन्मा न अगनकुमार तो नद-नदियां वह-वह निकलें. पुत्रजी, यह अगनकुमार सब देवताओं का सारथि है और यही अग्नि और यज्ञ का पिता भी."

"पर जी, अग्नि कहां से उपजी!"

"पुत्रो, अग्नि की उत्पत्ति सुनहले जल से हुई. सोने-जैसे रंगवाले सुथरे पवित्र जल से."

भाई को कंधे से लगाये भोली बड़ी सोचों में पड़ गयी—

"लालाजी, यह सुनहला जल गागर में था कि घड़े में! घट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांसी का था कि मिट्टी का."

लालाजी बच्ची को देख-देख सिर हिलाते रहे, फिर बड़े लाड़ से बोले—

"बेटी, यह सुनहला जल गागर में नहीं, घड़े में था. आदि पुरुख की सत्या देखो. कलश से बूंदें गिरीं गागर में और हाड़-मांस के मनुक्ख बन-बन खड़े होने लगे."

"लालाजी, चन्न मामा की भी कहानी सुनाओ न!"

"पुत्रो, चंद्रमा अकेला है. इसका कोई संगी-साथी नहीं. इसके कोई आगे-पीछे नहीं. जो मनुक्ख अकेला है वही इसे साथी मान लेता है.

"चंद्रमा ऊपर से धरती को देखकर दिल में बड़ा संताप पाता है. पर अपना दुःख किसी को नहीं दिखाता. सारे दुःख-दर्द अंदर-ही-अंदर पीता रहता है. सो चांद का कालजा शिलाखंड बन गया है."

शाहनी ने ठंडा हौका भरा तो चाची महरी का दिल भर आया.

"लालाजी, सूरज की गर्मी चांद को क्यों नहीं पिघलाती!"

"पुत्री, सूरज अपने आप ही इससे परे रहता है. जानता है न कि अगर चांद के दुःख-संताप पिघल गये वो ब्रह्मांड में प्रलय हो जायेगी."

"लालाजी, चनाब में दो चन्न कैसे दिखते हैं!"

"पुत्तरजी, चांद तो एक ही है. दूसरा तो उसका लिशकारा है."

"लो यह और सुनो."

"ऊपर वाला चन्न और अपना दरिया चनाव दोनों जुड़वां भाई हैं."

"सूरजा के ब्याह में जब गगन-मंडल में उजियारी चादर पड़ी तो इन दोनों भाइयों की आंखें चौंधिया गयीं. एक इधर भागा, एक उधर. बस दोनों बिछुड़े गये."

"बेबेजी, इनकी मां ने क्यों न ढूंढा अपने बच्चों को. वह कहां थी उस वक्त."

"बच्ची मेरी, वह चाटी में दूध-दही डाल चुकी थी. मथानी कैसे छोड़ती. बेटों के लिए मक्खन भी तो निकालना था न!"

"जब दोनों बच्चे खो गये तो उसने मक्खन का क्या किया!"

"घिए, उसने घी बना लिया होगा!"

"लालाजी, फिर!"

"बच्चो, दोनों भाई बिछुड़े गये तो एक जहां ठिकाना था वहीं-का-वहीं रह गया. दूसरा हिमवान राजा के आंगन में आ गिरा."

"चुप्पा चांद गुमसुम रहकर ठंडा हो गया और दूसरा जोरा-वर चंचल टकरा-टकरा बर्फ़ों को तोड़ने लगा!

"हिमवान ने सोचा इसे पाताल पहुंचा दूंगा, पर यह मनचला लौकड़ा परवतों से कूद भागा और हमारी धरती पर अठखेलियां करने लगा. जोरावरी दिखाने लगा!" □

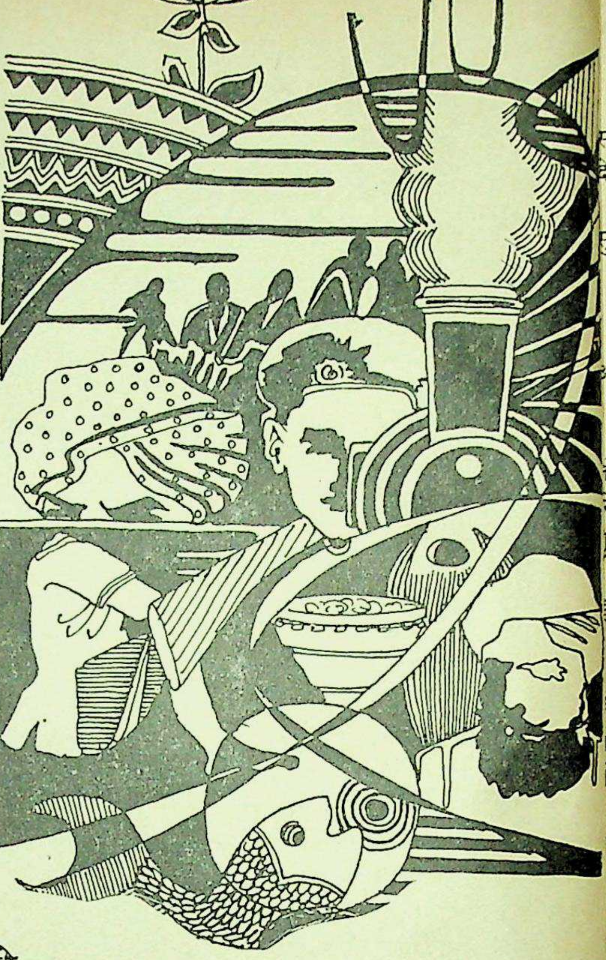

दो

तेरी रहमतों के सदके

"फौजियो मुबारकें! मुबारकें हों, घर आने की मुबारकें! बादशाहो, पूरे तीन साल बाद दरस दे रहे हो. अपने लशकरों में ही दिलजोइयां! धन्य हो, धन्य हो प्यारेयो!"

"जहांदाद जी अखियां थक गयीं राहें देखते. गोरों के साथ इतनी रास्ती हो गयी कि घरों को लौटने को मन ही न करे!"

"अब क्या कैफियत दें आपको चाचा मुहम्मदीन! इतना समझ लो कि जिस दिन छुट्टी मंजूर हुई उसी दिन, टपोसी मार ली."

जहाँदादजी ने अपने साथी को मजलिस में पेश किया—

"बादशाहो, यह हैं अपने अजीज दोस्त साहिब खां. अपने 40 पंजाबी पल्टन के ही हैं. यह समझ लो कि हम सालों साल इकट्ठे रहे हैं. हमारी भरती भी एक ही दिन, एक ही जगह की. अर्ज़ यह है कि दोस्ती-यारी निभानी कोई सीखे इन शाहपुरियों से!"

कर्मइलाही मज़बूत कद-काठी देखकर डाडे खुश हुए—

"बादशाहो, दोस्ती-यारियों की बरक़तें बड़ी, पर पुत्तरजी! शाहपुरी पग्ग आपकी ज़रा आंखों में खटकती है!"

साहिब खां ने झट झुककर सलाम किया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जनाब हुक्म करें तो उतारकर कदमों में न रख दें."

शाहजी हंसने लगे—

"बस जी, नज़र उतर गयी. चाचा कर्मइलाही, आपकी सयानफ़ के क्या कहने. जोड़ी भी तो यारों की खैरों से ऐसी कि देख-देख भूख उतरे."

मौलादादजी छोटे भाई और उसके दोस्त की तारीफ़ें सुन-सुन खुश हुए!

"जी सदके, जी सदके!"

गंडासिंह ने मशकरी की—

"क्यों जी बंदूकों वालेयो, खैरों से इतनी देरों बाद आये हो, अपना घर-पिण्ड तो पहचान लिया है न!"

जहांदादजी बड़ी गर्मजोशी से हंसे—

"सज्जनो, आप 33 पंजाब और हम 40! ज्यादा फ़रक तो न हुआ ! आप तो जानते हैं, फ़ौजी बंदे दुनिया जहान घूमने निकल जायें पर दिल अपना पोटली में बांधकर अपने पिण्ड के पुराने रुख पर लटका जाते हैं!"

"सुभान अल्लाह ! वाह-वाह म्रत्थ, क्या बात की है! दिल खुश कर डाला है!"

शाहजी ने भी जहांदाद खां पर परशंसा बरसा दी—

"जी कोई ग्रां का प्यारा अपना चित्त-मन लटका जाये पेड़ की डाल पर तो सरदी-गरमी पिण्ड वाले भी अपने ग़ैर-हाज़िर सज्जन-प्यारों को याद करते रहते हैं. क्यों फ़तेह अली जी झूठ तो नहीं न!"

"बराबरी सही. जिस तरह अपने सुच्चे कपड़ों को धूप हवा लगायी जाती है न, बस वैसी ही समझ लो अपने मित्र-प्यारों की यादें!"

ताया मैयासिंह को सोहणी सूझ गयी—

"ज़रा मेरी भी सुन लो. इस धरती का अन्न पानी मुंह लगाने वाला दिल सुच्चे सोने से आला और बढ़िया! धूप हवाएं लगवाओ न लगवाओ, यहां किसी दिल को जंग-जंगाल लगने का काम नहीं. खुला खुलासा."

दोनों दोस्त सुनकर ऐसे खुश हुए कि उठकर मैयासिंह को फ़ौजी सलाम मार दी.

ताया मैयासिंह का दिल नरमा कपाह हो गया.

"सौ फ़सलों की खट्टी कमाई खाओ. मैयासिंह रोज़ अरदास करेगा वाहगुरु के दरबार में!"

शाहपुरिया साहिब खां बड़ा नटखौना बना छोटा-छोटा हंसता रहा.

कृपाराम आये तो अपने साथ कोकला मिरासी ले आये.

"शाहजी, अपने फ़ौजी सूरमाओं की आमद में पहले तो हो जाये गाना..."

गंडासिंह शड़ापी मार मंजी से उठे और कृपाराम को गर्दन से पकड़ लिया—

"ओये मेरे वैरिया, मैं पिण्ड परता तो क्यों न हाज़र किया ते मिरासी मेरा जस्स गाने को. बोल, जल्दी बोल!"

मंजियों पर बड़ा हास्सा पड़ा.

कृपाराम को कुछ सूझ गया हाथ जोड़कर अर्ज की—

"फ़ौज बहादुर, आपकी आमद पर कोठे से हवा में गोलियां चलीं गयीं जो सारे पिण्ड ने सुनी थीं."

"सुन लो लोको, सुन लो इस खच्चरे की बातें. बंदूक मेरी, गोली मेरी और यारा, मंडल में चलने वाली हवा ही खाली तेरी थी न!"

कृपाराम ने गुनहगारी में हाथ जोड़ दिये—

"माफ़ी खता की, माफ़ी! झूठ क्यों बोलूं सिंह बहादुर, उस दिन तो निरी दिल की खुशी ही मेरी थी."

"बस ओ बस, अब इससे बड़ा सच्च न बोलना."

शाहजी ने साहिब खां की ओर देखा—

"बादशाहो, कोकले को इजाज़त दें तो गाना शुरू करें!"

साहिब खां ने माड़ा-सा सिर हिलाया "जी!"

कृपाराम ने कोकले को आवाज़ दी—

"चल ओ कोकले, शुरू हो जा! कोई फड़फड़ाता-खड़कता सुना वरदी वालों को!"

"जो हुक्म बादशाहो!"

पिण्ड झुके चौकीदार अग्गे
चौकीदार झुके लम्बड़दार अग्गे
लम्बड़दार झुके अहलकार अग्गे
अहलकार झुके सरकार अग्गे
सरकार झुके तलवार अग्गे
तलवार झुके सिपहसालार अग्गे
सिपहसालार झुके फ़तेह तेग अग्गे
फ़तेह तेग झुके बादशाह अग्गे
बादशाह झुके सच्चे पातशाह अग्गे !

बैठक झूम उठी—

"वाह ओ वाह पुत्तर कोकले! यह बंद कब जोड़ा!"

"शहंशाहो, आज ही. सोचा, गोरा फ़ौजों के सिपहसालार घरों को आये हैं, तैयारी ज़रा तगड़ी ही करें."

कोकले ने सलाम किया, झोली फैलायी. बाग्गे ने शाहजी के इशारे पर गुड़ की भेली दी. जहांदाद खां जी और साहिब खां जी ने एक-एक टका डाल दिया.

"शाह सलामत. सलामत विलायती फ़ौजों के मालिक! रब्ब-रसूल की मेहरों से बाजों-गाजों के साथ घरों को लौटते रहें अपने सूरमे!"

जहांदाद खां जी ने तारीफ़ की "बड़ा रौबदाब वाला तुक्कड़ था. मिरास अपने पिण्ड की अच्छी हुशियार हो गयी है."

गुरुदित्त सिंह हंसे, "मैंने कहा छावनी साहिब नेग-दस्तूरी तो कोकले की बनती ही थी बाकी यह कवित्त मैंने पार के साल ननकाना साहिब गुरुद्वारे में सुना था."

काशीशाह ने ढीला किया—

"बोल ज़रूर सुने होंगे. मुझसे पूछो तो कोकले ने चंगा सोज़ से गाया है. जो सुर-ही-सुर में पातशाह और बादशाह की तौफ़ीक अलग-अल्हदा कर दे, उसमें कुछ तालीम तो है न!"

मौलादादजी को बात बड़ी पसंद आयी—

"वाह-वाह, क्यों नहीं!"

गुरुदित्त सिंह और मौलादाद भी भरती दफ़्तर का मुंह-माथा देख आये थे, पर डाक्टरी तक पहुंचते-पहुंचते फ़ौज के ख्वाब भू-भस्म!

अरमान से कहा—"जहांदाद जी, आप ही कोई गर्मा-गर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनाओ. आप्पां भी पुलिस फ़ौज में भरती हो जाते तो इसी आबरू-इज्ज़त से घरों को आते."

कृपाराम ने समझाया—

"खालसा जी, इतना अरमान और भरम इस उम्र में शोभा नहीं देता. खैरों से काका पृथीसिंह को पेटी-पग्ग मिली हुई है."

जहांदादजी ने पूछा—

"काका अपना किस कंपनी पलटन में है!"

"वही जी तेतीस पंजाब लवाणा आजकल जेहलम छावनी में पड़ी है. जहांदादजी, आपका भी डेरा जट्ट रसाला ही है न!"

"न जी! अपनी रजमंट 40 पंजाबी. 40 पंजाबी मशहूर मुल्की पलटन है. कोई जात-ज़िरगा नहीं जो इसमें न हो. इसमें जट्ट, राजपूत, बुनेरवाल, स्वाती, गिलज़ई, दुर्रानी, बजौरी, भट्टानी, यहां तक कि इसमें गोरखे तक शामिल हैं."

काशीशाह ने पूछा—"अखबार कहता है कि हकूमत कबाइलियों को काबू करने की जी-तोड़ कोशिश कर रही है."

"जी. सड़कें-छावनियां कई बिछाई-सजाई गयीं पर जी ब्लोच कबाइली बाज नहीं आते. बड़े ज़ालिम. साहिब खां, याद है न जब महसूदियों ने ज़ोब गारद पर गोली चला दी थी!"

"ग़ालिबन यह उसी साल की बात है जब मियां पविंदों का काफ़िला गोमल से होकर खुरासान की ओर बढ़ रहा था. बैसाख का महीना था. कारवां सुस्ताने को रुका. ऊंट खोल दिये गये. आग जलाकर देगें चढ़ाने की तैयारी हो ही रही थी कि जल्ली खेल वजीरियों ने हल्ला बोल दिया. वजीरी सत्तर तो ऊंट ले गये और जो मुकाबले को बढ़ा फिस्स-चित्त!"

काशीशाह को पैसा अखबार वाली खबर याद आ गयी—

"यह तभी की बात तो नहीं जब महसूदों को एक लाख जुरमाना लगाया था सरकार ने."

"जी तभी."

गुरुदित्तसिंह को कुछ ख्याल आ गया—"बादशाहो, फ़ौज में आपस की दुश्मनियों के वारे-न्यारे भी होते रहते होंगे?"

"बराबर. आप जानो यह रोग तो बंदे के साथ लगा ही हुआ है न. गये साल गुजरांवाले के भट्टी नायक को विरक लैन्सनायक ने गोली मार दी थी."

विरकों और भट्टियों की पुरानी दुशमनी! दोनों के मुण्ड बीकानेर और भाटनेर के ही हैं.

"शाहजी, विरकों की सुनी हुई है न आपने! रेलगड्डी उन दिनों नयी-नयी चली थी. घरवाली ने देखा खसम की पगड़ियां फट-फटा गयी हैं. बंदा रोटी खाने बैठा तो कहा—

"साफों का जोड़-जुगात्त कर डालो. दोनों फट गये हैं."

विरक बच्चा थाली छोड़कर उठ बैठा—

"ठहर, मैं अभी आया." उधर कोई गड्डी टेशन पर खड़ी थी. हाथ में खुट्टीवाला बांस लेकर विरक दूर से ही अंदर डाले और मुसाफ़िरों की पगड़ियां उतार अगले डिब्बों की ओर बढ़ता जाये. जितने में नंगे सिरोंवाले मुड़कर देखें, बांस पर छह: आठ पगड़ियां हो गयी थीं. उधर शोर पड़ा, इधर विरक परत के घर थाली के आगे जा बैठा.

घर वाली झुरने लगी—"ओ जनेया रोटी छोड़कर उठ बैठा. कौन-सा घड़ी महूर्त टला जाता था!"

विरक खीझ गया—

"ओ चुप. अकल तेरी गुत्त के पीछे. गड्डी खड़ी थी टेशन पर, बंदा काम करके सुरखरू हुआ. दूसरी गड्डी लंघेगी शाम को तब तक आंखों के डेले घुमाता रहूंगा कि अब आयी-वह आयी लो आ गयी!"

बैठक में बड़ा हास्सा पड़ा.

"बादशाहो, साफे-पग्ग लाने की तरकीब देखो जरा."

"क्यों नहीं जी, विरक बच्चे बड़े कलाबाज़. इन्हीं पर कहावत है—पुत्तरजी, चोरी न करसो तो खासो क्या!"

मुंशी इलमदीन पूछ बैठे—

"क्यों जी, क्या पलटनों में भी चोरी-चकारी होती रहती है!"

"होती है. डेरा इस्माइल खां, गाजीखां, कोयटा चमन की तरफ़ फिस्तौल की चोरी काफी. जी में आ जाये तो उठा ली. 40 पंजाब जब कोयटा चमन तैनात थी तो हर रोज़ एक हादसा."

साहिब खां बोले—

"इन कामों में ब्लोच का दिमाग बड़ा तेज़. जब तक बदला न ले ले, कंडे की तरह धुखता-सुलगता रहता है."

जहांदाद खां ने याद दिलाया—

"ताबूत वाला किस्सा हो जाये साहिब खां!"

"बादशाहो, उन दिनों 40 पंजाब डटी हुई थी चमन. एक ब्लोच जवान ने अरज़ी दी कि रिश्तेदारी में मौत हो गयी है. लाश दफ़नाने के लिए उसे तरीह जाना होगा.

"दरख्वास्त मंजूर हो गयी. होनी ही थी. गोरे अफ़सर अपने जवानों से अच्छी सलूकदारी रखते हैं. इत्तफ़ाक ऐसा हुआ कि ब्लोच जब ऊंट पर ताबूत रखवा ही रहा था, कमान कप्तान उधर से निकल पड़ा. उसे कुछ शक हुआ. हुक्म दिया—

"खोलना मांगता ताबूत—देखना मांगता!"

ब्लोच नज़दीक आया. हौली मगर सख्त आवाज़ में कहा, "हुक्म वापिस कर लो साहिब. ताबूत की इज़्ज़त में हम जान दे देगा या ले लेगा."

कप्तान ने ब्लोच को गेट-पास देने का हुक्म कर दिया. शाम को बंदूकों की गिनती हुई. एक कम!

ब्लोच छुट्टी से आया. बंदूक कंधे पर थी.

कप्तान के आगे पेशी हुई तो ब्लोच मुकरा नहीं. कहा "साहब, पुराना दुश्मनी था. हमारे वालिद के कातिल को मारना जरूरी था. अब साहब बहादुर जो सज़ा देगा वह मंजूर!"

सुन कर गुरुदित्त सिंह का जीव उबलने लगा. काका पृथीसिंह इस बार छुट्टी पर आये तो कुछ बात बने. टांडे वाले काथासिंह की खलासी लाज़मी है. भरी बिरादरी में अपने टब्बर की जई-तई फेर कर बैठा है.

गंडा सिंह बड़ी गहरी निगाह से गुरुदित्त सिंह के फूलते नथुने देखते रहे. फिर तरकीब से उसे चौकस किया

"बदला लेना तो राह रस्म हुआ उनके लिए. ब्लोचों की खुंदक बड़ी डाडी! सुनो, एक किसी नबीशाह को बन्नू के अतर सिंह ने गुस्से में जख्मी कर दिया. बस जख्म के साथ-साथ ब्लोच का कलेजा धुखता रहा. ठीक हुआ तो पहला काम यह किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतर सिंह और उसके पूरे खानदान का खात्मा कर दिया. फिर भरे बाज़ार ऐलान किया, "खून का बदला खून."

जहांदाद जी, शाहजी की ओर मुड़े, "शाह साहिब, फ़ौजों के अपने ही खतरे और अपनी ही खातिरें."

"जहांदाद जी, खैरों से सवारियां पिण्ड ही उतरी हैं सीधे कि कहीं रास्ते में चहल-टहल भी हुई?"

"रब्ब की दुआ-खैर, लखनदाता सखी सरवर के दरबार में अपनी हाज़री हो गयी."

"वाह-वाह, सखी सरवर के हजूर में पहुंच जाये बंदा तो और क्या चाहिए."

"सबब लग गया. साहिबखां जी ने मन्नत मांगी हुई थी. इनके साथ अपनी तकदीर भी खुल गयी."

छोटे शाह बड़े खुश हुए, "भला कम्म. रोटी रिज़क तो बंदे के चलते ही रहते हैं. बाकी नज़र-नियाज़-मन्नत सब उस रहमत वाले की बंदगी की ही शक्लें हैं."

"शाह साहिब, लखनदाता के हजूर में सवाब ही सवाब. जी जाहिरा दरबार सखी सरवर का."

"बहुत बड़ी जियारत गाह है! एक तरफ़ ग़रीब नवाज़ सरवरशाह का थान. दूसरी तरफ बाबा नानक का! बादशाहो सखी सरवर साहिब जी की वालिदा माई आयशा का चर्खा-पीढ़ी देख कर आंखों को ठंड पड़ जाती है. लो और सुनो. पास ही एक ठाकुरद्वारा है. एक तरफ अपने भैरों का मंदिर है."

काशीशाह ने सिर हिलाया——

"अपनी आंखों से न देखा हो तो बंदा यकीन करे. साबित यह हुआ कि ये तकसीमें-फिरकेदारियां तो बाद की बातें हैं. मनुक्ख ने खुद बनायी हैं. रब्ब रसूल और कर्त्ता कारणहार सब एक ही है."

कर्मइलाही जी को कुछ सूझ गया——

बादशाहो इधर पंजपीर
उधर पंज पांडव
इधर पंज औलिया
उधर पंज प्यारे.

मैयासिंह पांजे पर चौकस हो गये——

"बरखुरदारो, इस अपने पंजाब मुल्क का भी रब्ब के साथ कुछ मेल-ठेल ज़रूर होगा. पूछो भला क्यों! वह यूं कि रब्ब ने भी उठा के मुल्क पंजाब को पंज दरिया लगा डाले. उस धरती का क्या कहना सज्जनो जहां कुदरत से ही पांजा पड़ा हो."

काशीशाह ताया मैयासिंह पर बड़े खुश हुए. उठकर घुटनों को हाथ लगा दिया——"ताया जी, बात वह जो वक्त पर सजे!"

मौलादाद जी ने भी खुशनुमाई की——

"शाहजी, वतन तो अपना बड़े नक्क-दक्ख वाला हुआ न. ज़मानों से बहादुर कौमों की आवा-जावी लगी रही. बड़े-बड़े पीर, औलिया, मुरीद और शहीद हो गये."

"शाह साहब, एक और अनोखी दास्तां हैं वहां की. सखी सरवर के तीन मजावर कुलांग काहीन और शेख इन तीनों की अल-औलाद की हाज़री है दरबार में. कहते हैं सखी साहब के मुंह से निकला वचन है कि इन तीन शाखाओं में कुल मुजावर एक वक्त पर सोलह सौ पचास ही रहेंगे. न एक कम, न एक ज़्यादा."

"बादशाहो, रब्बी पुरुख को रब्बी रोशनाई."

जहांदाद जी ने लखनदाता के दरबार से आयी चूरमे भरी कुज्जी नवाब के हाथ घर से मंगवा ली और छोटे शाह को सौंप कर कहा, "आप वरताओ, सबके मुंह लगवाओ. रब्ब करे यहां मजलिस में बैठा सब कोई ग़रीब नवाज़ के दरबार में हाज़िर हो!"

सबने चूरमा मुंह लगाया——

"लखनदाता, तेरी रहमतों के सदके!"

गंडासिंह ने जहांदादजी को इशारा किया——

"फ़ौजियो, आपने अभी कुछ खुशखबरी भी देनी है पिण्डवालों को. आज ही दे डालो. यह न हो मेरी तरह हफ़्ता लग जाये. मैं पैन्शन परची ले के आया तो खबर देने को मुंह न खुले. रोज़ रात कोठे पर चढ़ कर बंदूक से फायर कर दूं! पिंड वाले सोचें मुझे पल्टनी आदत पड़ी हुई है. लगातार पांच छः दिन चलता रहा यह किस्सा. एक सुबह अपने शरीक झंडा सिंह ने आवाज़ दे दी——

"ओए गंडा सिंह ज़रा जिगरा रख. सब फ़ौजियों की पैन्शन परची निकलती है. तू अनोखा ही पैन्शन लेकर नहीं आया. हवा को किसने रोका जो रोज़ रात को गोली दाग देता है."

फिर लोगों को सुना कर ऊंची आवाज़ दी——

"सुन लो लोको, नायक गंडा सिंह तेतीस पंजाब पैन्शन पाके आया है. आज इसके घर मुबारकें-बधाईयां दे आना."

"सो जहांदाद, कोई भरम न करो. खैरों से प्रभात तड़के ने भी पहुंचना ही हुआ शिखर पर."

"बराबर. बादशाहो, अल्लाह के फ़ज़ल से पूरी इज़्ज़त-आबरू के साथ हम दोनों फ़ौज से पैन्शन पा आये हैं."

बैठक एक पल को तो हक्की-बक्की रह गयी.

मौलादाद जी ने छोटे भाई को हाथ दिया——

"रहने को क्या, अभी पांच-सात बरस और भी रह ही सकते थे. चंगा है अपने घरों को परते हैं——रौनकें लगेंगी."

शाहजी ने समय सहेज लिया——

"मूल बात तो यह हुई बादशाहो कि अपने बरखुरदारों के लिए जगह भी खाली करनी पड़ती है मनुक्ख को. दूसरे घरों में छोड़ी हुई घर वालियां और जिवियां पले-पले मालिकों को पुकारती रहती हैं. एक न एक दिन उनकी सुननी भी ज़रूरी है. जहांदाद खां जी, ग़लत तो नहीं!"

"शाह साहिब, बिल्कुल सही और सच्च!"

चौधरी फ़तेह अली जी ने पूर्णा डाल दिया——"पुत्र जी, मौज-मजे और विक्रमाजीती बहुतेरी हो गयी. अब अपनी जिवियों में लशकर बिछाओ. मजलिसों में सजो और पिण्ड को सजाओ." □

यह बहुप्रतीक्षित उपन्यास
जन-जीवन की जीवंत महागाथा के रूप में
राजकमल प्रकाशन
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002
से प्रकाशित हो चुका है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजनबी होते हुए

● बैकुंठनाथ मेहरोत्रा

दुश्चिंताओं की बढ़ती हुई जकड़न अब असह्य होती जा रही है. पर करूं भी क्या! इससे मुक्ति पाने के लिए जितना ही छटपटाता हूं, जितना ही यत्न करता हूं, उतना ही यह मुझे और कसती जा रही है. रोज ही तो छोटा-मोटा ऐसा कुछ घट जाता है, जो आग में घी का काम कर देता है. सब कुछ सहसा और भभक उठता है—तन, मन, घर का सारा वातावरण. सच तो यह है कि घर अब घर जैसा लगता ही नहीं. जिस घर में लौटने को हर समय मन अकुलाता रहता था, वहीं लौटते अब डर लगता है. स्नेह-संबंधों से हर क्षण स्पंदित रहने वाला मेरा अपना घर कैसे और कब धीरे-धीरे, एक होटल का रूप ले बैठा, मैं बिल्कुल नहीं सोच पाता. पहले यहां ज़िंदगी को उत्साह और उल्लास से जीनेवाला एक संतुष्ट पति और स्नेही पिता रहता था, भविष्य के सुनहले सपनों में हर क्षण डूबी आरती नाम की एक पत्नी और ममता-मयी मां, अपूर्व, अपर्णा और अंजली नाम के तीन भोले, निश्छल और होनहार बच्चे. पर लगता है जैसे वे सब यहां से कहीं चले गये. उनके स्थान पर जो नये आकर बसे हैं वे एक दूसरे से जुड़ने के बजाय हर क्षण दूर होते जा रहे हैं, एक दूसरे के लिए अजनबी होते जा रहे हैं. आरती के स्थान पर एक चिंतित मां और थकी-हारी पत्नी आ बसी है, अंजली के स्थान पर यौवन की देहरी पर ठिठकी एक तरुणी, अपूर्व के स्थान पर एक उद्दंड, दिशाहीन, स्वार्थी किशोर और अपर्णा के स्थान पर एक निर्मोही और निर्लज्ज किशोरी.

साथ रहने वाले सर्वथा अपरिचितों के बीच भी, धीरे-धीरे एक पहचान उग आती है, मूक स्नेह सांसें लेने लगता है. पर यहां तो जैसे यह क्रम ही उलट गया है. परिचय अपरिचय में बदलता जा रहा है, सामीप्य बिखराव में.

▣

मैं विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था जब आरती मेरे जीवन में आयी. वह भी उसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापिका थी. उसका अपना अलग व्यक्तित्व था, मान-सम्मान था, प्रतिष्ठा थी. लेकिन जिस दिन से वह मेरी हुई, उसने अपना सब-कुछ मुझे समर्पित कर दिया था. एक दूसरे में खोये हुए हम परम सुखी थे, परम संतुष्ट. साथ-साथ सुनहले सपने देखते और भविष्य का ताना-बाना बुनते दो वर्ष कब सरक गये, हमें पता ही न चला. हमारी तंद्रा टूटी तब, जब अंजली आरती की गोद में आयी और हमारा जीवन धीरे-धीरे बाहरी दुनिया से कट कर घर की चहारदीवारी में सिमटता गया. इसके बाद हमारी स्वच्छंदता और निश्चिंतता उत्तरोत्तर घटती ही गयी. अंजली के पांच वर्ष बाद आया अपूर्व और उसके एक वर्ष बाद अपर्णा.

अंजली के जन्म के तेईस वर्ष बाद अपनी स्टडी के एकांत में उदास बैठा मैं इतना उद्विग्न हूं कि कहीं कुछ भी मन को बांध नहीं पाता. काम के बोझ तले दबा और परिवार की चिंताओं से व्यग्र आरती का उदास चेहरा सहसा सामने उभरता है और धीरे-धीरे धूमिल होकर अंजली के चेहरे में बदल जाता है. उसकी आश्वा[…] और स्नेहभरी मुद्रा क्षण भर को मेरे म[…] पर छाये निराशा के काले बादलों [...] छांटती-सी लगती है कि तभी [...] जोड़ा क्रुद्ध आंखें मुझे घूरने लगती[…] अट्ठारह वर्षीय अपूर्व की आंखों [...] अवज्ञा, तिरस्कार और उपेक्षा है अ[…] अपर्णा की आंखों में निर्लज्जता अ[…] उछृंखलता. उनके चेहरे धूमिल न[…] पड़ते बल्कि धीरे-धीरे और बड़े, अ[…] स्पष्ट होते जाते हैं. आंखों की क्रू[…] और घृणा सघन होती जाती है. मैं उन[…] ओर देखना भी नहीं चाहता, उनके वि[…] में सोचना तक नहीं चाहता, पर उन[…] दृष्टि जैसे मुझे छलनी कर देना चाहती[…] विवशता का बोध दम घोटने लगता[…] माथे पर पसीने की हल्की-हल्की [...] उभर आती हैं. सांसों की गति तेज़[…] जाती है. पहले उनके ऊपर क्रोध से उ[…] पड़ता था, आपे से बाहर हो जाता[…]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर अब ऐसा करते डर लगता है. अवहेलना और तिरस्कार चुपचाप पी जाता हूं. कोई भी प्रतिक्रिया व्यक्त करने को जी नहीं करता. मन गहरे अवसाद और विरक्ति से भर उठता है. आंखें अनायास ही नम हो जाती हैं और मेरे थके मस्तिष्क में फिर वही एक प्रश्न बार-बार घुमड़ने लगता है—ऐसा आखिर क्यों?

ऐसी बात नहीं कि इन दोनों का ढर्रा शुरू से ही बिगड़ा रहा हो. यह तो पिछले साल-दो-साल से न जाने क्या हुआ है कि इनकी उच्छृंखलता बढ़ती ही गयी है. विद्रोह का प्रदर्शन अपनी चरम सीमा छूने लगा है. अंजली भी तो आखिर इन्हीं की बहन है. उसी वातावरण में पली है जिसमें ये पले हैं. फिर वह इनसे सर्वथा विपरीत कैसे?

अतीत में मुड़ कर मैं झांकना नहीं चाहता, पर मन है जो मानता ही नहीं. बार-बार उधर ही पलट कर न जाने क्या खोजने लगता है.

▣

शुरुआत शायद एक बहुत छोटी-सी बात से, खाने की मेज़ पर हुई थी. हर काम का अपना एक सलीका होता है. उस दिन खाना खाते समय आपस में बातचीत न करके अपूर्व कोई किताब पढ़ता रहा. मेरी दृष्टि उधर गयी तो गुस्से से बिफ़र उठा, "यह क्या बदतमीज़ी है! फौरन बंद करो किताब! यह कोई पढ़ने की जगह है!"

दो-एक मिनट उसने मेरी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और उसी तरह किताब के पन्ने पर आंखें गड़ाए रहा. मेरा क्रोध बढ़ता जा रहा था और मैं दुबारा उसे टोकने वाला ही था कि तभी वह झटके से उठा और मेरी ओर अवज्ञा से देखता हुआ आवेश में कमरे से बाहर चला गया. आरती ने कई बार उसे पुकारा भी, पर वह लौटकर नहीं आया. मैं और भी उत्तेजित हो उठा और झल्ला कर बोला, "कोई ज़रूरत नहीं उस जंगली को बुलाने की. इस तरह तो वह और भी सिर पर चढ़ता जायेगा. क्या इतना भी नहीं सोच सकतीं तुम?"

"नहीं, आपका तरीक़ा बहुत अच्छा है." उसने भी ज़रा तीखे स्वर में उत्तर दिया, "हर समय पारा आसमान पर चढ़ा रहता है. इस तरह दुत्कारने के बजाय समझा कर नहीं कह सकते थे उससे?"

मैं कुछ नहीं बोला और हम चुपचाप खाना खाते रहे. उठने तक हमारे बीच और घर के पूरे वातावरण में एक अजीब तनाव छा चुका था.

इसके बाद की न जाने कितनी छोटी-मोटी घटनाएं हैं जो हमारे मानसिक तनाव को निरंतरता ही नहीं देती रहीं बल्कि उसे बढ़ाती भी रहीं. धीरे-धीरे अपूर्व हम लोगों से ही नहीं, अपनी पढ़ाई-लिखाई से भी कटता गया. अपने ही जैसे निठल्लों की संगत, दिन भर हंसी-ठट्ठा और सैर-सपाटा. न बाहर जाने का कोई समय, न घर लौटने का. किसी से पूछने-ताछने का तो प्रश्न ही नहीं रहा और न घर के काम-काज में हाथ बंटाने का. हमारे मन को हर समय ठेस पहुंचाना, हमारी भरपूर उपेक्षा करना ही जैसे उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो गया था. उसकी इस निरंकुशता और आक्रामक रवैये के आगे हम एकदम निरीह और बेबस होते जा रहे थे.

उसी की देखा-देखी ढीठ होती गयी अपर्णा भी. अंजली जितनी गंभीर, सौम्य और स्नेही है, अपर्णा उतनी ही शोख़ और चंचल. कब पलट कर क्या जवाब दे दे, इससे बचने के लिए मैं उससे कम ही संपर्क रखता हूं. उसके संबंध में जो भी कुछ ख़ास कहना होता है, या तो आरती से कह देता हूं, या फिर अंजली से. मुझे अनुराग से उसका मिलना-जुलना कतई पसंद नहीं और यह मैं आरती से कई बार कह भी चुका हूं. पर कुछ दिन पूर्व तो मर्यादा की सारी सीमाएं ही टूट गयीं. मैं अपने कमरे में बैठा कुछ पढ़ रहा था. तभी आरती के कमरे में अपर्णा का तेज़ स्वर सुनकर मेरा ध्यान बंट गया. उसने शायद अनुराग के विषय में ही उससे कुछ कहा होगा, तभी वह उत्तेजित होकर उत्तर दे रही थी—

"आप लोग तो न जाने कहां-कहां की बेसिर-पैर की बातों पर विश्वास कर लेते हैं. कौन कहता है कि अनुराग आवारा है?"

"अब यह तुम मुझे बताओगी कि अनुराग कैसा लड़का है?" आरती के स्वर में रोष था," सारा कॉलिज जानता है कि वह आवारा है. उसके मां-बाप तक उससे परेशान हैं. बस एक तुम बड़ी हिमायती बनी हो उसकी!"

"बनी नहीं हूं. हिमायती हूं और बराबर बनी भी रहूंगी. कोई क्या कहता है, इसकी मुझे ज़रा भी परवाह नहीं." उसने झल्ला कर कहा.

"शाबाश, मेरी होनहार बच्ची, शाबाश! तुम जरूर खानदान का नाम उजागर करोगी."

आरती ने इतना कहा ही था कि मैं आपे से बाहर होकर तेज़ क़दमों से कमरे में चला आया और लगभग चीखता हुआ बोला, "ख़बरदार, जो आज से अनुराग ने इस घर में क़दम भी रखा! मुझे अपर्णा का उससे मिलना-जुलना क़तई पसंद नहीं."

अपर्णा ने जिस तरह अवज्ञाभरी दृष्टि से मुझे घूर कर देखा उससे स्पष्ट था कि शायद वह मुझसे भी ज़बान लड़ाने का दुस्साहस कर बैठेगी. तभी अंजली कमरे में आयी और उसे लेकर चुपचाप बाहर चली गयी.

मैं आरती से बिना कोई बात किये अपने कमरे में लौट आया और घंटों गहरे अवसाद में डूबा रहा.

▣

इसके बाद कई दिनों तक घर में तनावपूर्ण वातावरण बना रहा. हम एक दूसरे से कतराते, अपने-अपने में सिमटे रहे. हां, इतना जरूर हुआ कि उस दिन से अनुराग फिर घर में नहीं आया.

इस बात से मेरा जी कुछ हलका होना चाहिए था, पर ऐसा हो नहीं पाया. अपूर्व और अपर्णा का व्यवहार नम्र होने के स्थान पर और भी उद्दंड और अवज्ञापूर्ण होता गया. एक मानसिक आघात से हम उबर भी नहीं पाते कि दूसरा सामने आ खड़ा होता.

पर आज सुबह अपूर्व ने जो किया उससे तो मैं क्षण भर को बिल्कुल हतप्रभ ही रह गया. उसने मेरे कमरे में आकर जैसे दीवारों को संबोधित करते हुए बड़े ही रूखे स्वर में कहा,"आज मैंने और अपर्णा ने अपने कुछ दोस्तों को पिकनिक पर जाने के लिए बुलाया है. मैं गाड़ी लिये जा रहा हूं."

"क्या. . .!" मैंने चौंक कर कहा, "यह तुम मुझे सूचना दे रहे हो या मेरी आज्ञा लेने आये हो?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जो भी समझिए" उसने उसी तरह रुखाई से कहा, "मैं गाड़ी की चाभी लेने आया हूं."

"पर आज तुम लोगों की छुट्टी तो है नहीं!" मैं खीझ उठता हूं.

"तो इससे क्या! हमने छुट्टी मनाना तय किया है तो छुट्टी ही समझिए" उसने अधीर होते हुए कहा, "मेरे साथी ड्राइंगरूम में प्रतीक्षा कर रहे हैं. आप चाभी नहीं देना चाहते तो मां से पैसे लेकर हम लोग टैक्सी से चले जायेंगे."

उसकी इस अभद्रता से मैं आपे से बाहर हो उठा और उसकी ओर चाभी फेंकते हुए चीख कर बोला, "ये लो चाभी और जहन्नुम में जाओ. मैं तुम्हारी शक्ल तक नहीं देखना चाहता. बदतमीज, बेहूदे कहीं के. गेट आउट फ्राम हियर!!"

वह चाभी उठाकर खिसियाया-सा कमरे से बाहर निकल गया.

कुछ देर ड्राइंगरूम से ज़ोर-ज़ोर से बोलने की आवाज़ें आती रहीं. फिर मोटर स्टार्ट होने की ध्वनि और दो मिनट बाद एकदम सन्नाटा.

बाहर भी, भीतर भी. भीतर शायद कुछ ज्यादा ही.

मेरा क्रोध गहरे अवसाद में बदलता गया और मन निराशा, आत्म-दया और तरह-तरह की दुश्चिताओं में डूबने लगा. एक तंद्रा-सी छाती जा रही थी मेरे अंग-अंग में और मन न जाने कहां-कहां भटकता चला गया. कुर्सी पर निढाल बैठा मैं आंखें बंद कर लेता हूं.

▣

कुछ देर बाद मुझे लगता है जैसे एक बहुत ऊंचे पहाड़ के कगार पर बदहवास खड़ा मैं पागलों की तरह चिल्ला-चिल्ला कर लाल झंडी हिलाये जा रहा हूं. सामने, सांप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी लेटी सड़क पर एक मोटर आंधी की गति से कगार की ओर दौड़ी चली आ रही है. अपूर्व स्टियरिंग ह्वील पर है. तेज़ हवा में उसके लंबे बाल उड़ रहे हैं और चेहरे पर थिरक रही है एक कुटिल मुस्कान! बगल में बैठी अपर्णा ज़ोर-ज़ोर से कुछ गा रही है. पिछली सीट पर बैठी कुछ अस्पष्ट आकृतियां हाथ नचा-नचा कर तालियां बजा रही हैं.

मेरी आवाज़ उस शोर में डूब जाती है और लाल झंडी को अनदेखा करके बेतहाशा आगे भागती मोटर कगार के छोर पर पहुंच कर सहसा हवा में उछल जाती है. मैं चौंक कर आंखें खोल देता हूं. सामने खड़ी आरती कह रही थी, "अभी आप तैयार भी नहीं हुए! क्या आज युनिवर्सिटी नहीं चलना है?"

मैं कुछ बोलता नहीं. यंत्र-चालित-सा तैयार होकर स्कूटर निकाल लाता हूं.

पीछे बैठी आरती एकदम गुमसुम है. स्कूटर तेज़ी से युनिवर्सिटी की ओर भाग रहा है, पर मेरा उद्विग्न मन फिर पहाड़ के कगार पर लौट कर नीचे गहरी घाटी में झांकने लगता है. □

20—ए, घोष बिल्डिंग्स जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद.

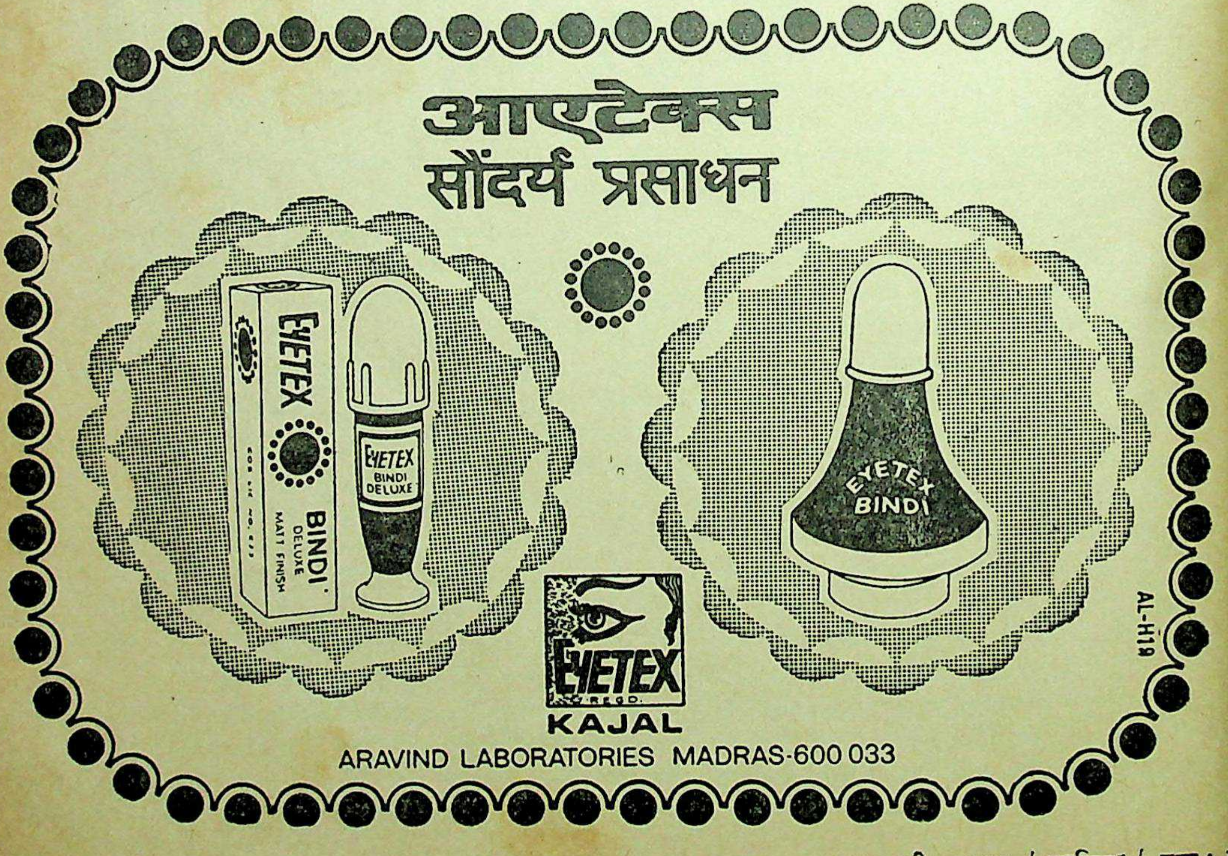

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदार

▣ रामानंद राठी

घर तक के लिए रिक्शा तय करते वक्त, मैंने रिक्शेवाले से यह पहले ही बता दिया था कि उसे रास्ते में थोड़ी देर के लिए ठहरना होगा. रिक्शेवाले ने हामी भर दी. वह चलने को हुआ ही था कि एक संभ्रांत से दिखने वाले सज्जन वहां आये और दूसरा कोई रिक्शा आस-पास न देखकर उसी में चलने की पेशकश करने लगे. उन्हें कहीं बीच में ही उतरना था. खैर, दोनों बैठ गये, रिक्शा चला.

रास्ते में जब वाहिद जिल्दसाज़ की दुकान आयी तो मैं अपनी पुस्तकें लेने उतरा. जिल्दसाज़ अपने पूर्व-निर्धारित रेट से कुछ अधिक पैसे मांगने लगा. मैं देने को तैयार न था. पांच-सात मिनट बीत गये. तभी रिक्शे में बैठे सज्जन पुकारे, "अरे साहब, बेवजह आप भी अठन्नी-चवन्नी के लिए तकरार कर रहे हैं, गरीब है बेचारा, दे दिवाकर जल्दी कीजिए."

जाहिर था, उन्हें जल्दी है. मैं जिल्दसाज़ को अधिक रेट से पैसे चुकता कर रिक्शे में आ बैठा. हम दोनों फिर मौन हो गये. कुछ दूरी पर जाकर वे सज्जन उतरे और जेब से बारह आने के पैसे निकाल कर रिक्शेवाले को देने लगे.

"वहां से एक रुपए का रेट है साहब," रिक्शावाल बोला.

"मैं तो रोज़ आता हूं, हरेक बारह आने लेता है."

"नहीं साब, अगर कोई बारह आने बताये, मैं आपसे एक पैसा नहीं लूंगा" रिक्शावाला ऐंठा.

"अब्बे तुम्हारी तो आदत ही भेंगी है, ले, कैसे लेता है एक रुपया" सज्जन ने गुर्राकर रिक्शेवाले का कालर पकड़ लिया.

मैं निर्वाक देखता रह गया. ▣

आदर्श सप्ताह

▣ लक्ष्मणविहारी माथुर

उन दिनों राज्य भर में 'आदर्श सप्ताह' मनाया जा रहा था. सारे लंबित मामलों को समुचित ढंग से निपटाने की सरकारी घोषणा थी. काफी समय पूर्व, परिवहन विभाग में मैंने क्लर्क के पद पर नियुक्ति के लिए आवेदन किया था. इसके लिए इंटरव्यू भी दो महीने पहले ही हो चुका था. किंतु, नियुक्ति का काम रुका हुआ था. कई तरह की अफवाहें सुनने में आ रही थीं. तभी मालूम हुआ कि इस 'आदर्श सप्ताह' कार्यक्रम के अंतर्गत नियुक्ति के इस मामले का भी निपटारा हो जायेगा.

उत्सुकतावश, मैं विभाग के बड़े बाबू से मिला. बड़े बाबू से मालूम हुआ कि सेलेक्टड लिस्ट में मेरा भी नाम है और दो-चार रोज़ में चुने हुए उम्मीदवारों को नियुक्ति पत्र भी भेज दिया जायेगा.

मैं बड़े दीन-भाव से बड़े बाबू के सामने जाकर खड़ा हो गया. बड़े बाबू को अपना नाम-पता बताया. बड़े बाबू ने पहले तो मोटे शीशेवाले चश्मे से झांकती हुई नज़रों से मेरा जायज़ा लिया और फिर बोले, "जानते हैं न, नियुक्ति के समय की कुछ रस्म होती है!"

मैं समझ गया. मैंने जल्दी से अपने पाकिट से 44 रुपए निकालकर उनके सामने मेज़ पर ही रख दिये.

बड़े बाबू ने गिने, फिर रुपए मेरी तरफ फेंक दिये और आंखें तरेरते हुए कहा, "जानते नहीं, आजकल सरकारी दफ़्तरों में आदर्श सप्ताह मनाया जा रहा है. जाइये, अगर आपकी नियुक्ति होगी तो सूचना घर पर ही चली जायेगी."

मैं हतोत्साहित भाव से रुपये उठाकर बाहर आने को ही था कि किसी ने मुझे आवाज़ दी. मैं दरवाजे के बाहर ही रुक गया. बड़े बाबू की बगल के टेबुल से उठकर एक व्यक्ति मेरे पास आया और बोला, "डियर, समझने की कोशिश करो. जानते हो कि आजकल सारे राज्य में 'आदर्श सप्ताह' मनाया जा रहा है! अरे, भई, जब हर काम में आदर्श है तो फिर इस काम में भी तो कुछ आदर्श होना चाहिए."

मैं अवाक-सा उसके कथन का अर्थ समझने की कोशिश करने लगा. ▣

आसपास बिखरी कहानियां

वात्सल्य

▣ विनोद श्रीवास्तव

आज फिर उसे मार लगी. अन्य दिनों की अपेक्षा ज्यादा लगी. वह बेहोश हो गयी. यूं विधवा मां को मारना शिवा के दैनिक कार्यक्रम का आवश्यक अंग था. हर रोज़, हर शाम. और उसकी मां? दनदनाते तोप की तरह अनगिनत गालियां बकती, "बदजात मरता भी नहीं. . मर जाये तो भगवती माई को एक किलो मिठाई चढ़ाऊंगी. कलमुंहे को सांप भी नहीं खाता. . ."

शिवा की पत्नी तथा दो बच्चे हैं. पत्नी दिन भर शिकायत की पोटली बांध कर रखती और जब शिवा शाम को ताड़ी पी कर नशे में धुत आता तो बोलने लगती, "बच्चे को क्या खाक खिलाऊं—दो क्षण नहाने न गयी पांचों रोटी गटक गयी. जाने सारी दुनिया की भूख इसी में क्यों समा गयी. कभी कपड़े में कच्चा चावल ही चुरा ले जाती है. और दिन भर चबाती रहती है. कभी गुड़ कभी चीनी. यहां तक कि तरकारी भी चट कर जाती है. घर का कहां तक पहरा करती रहूं. थोड़ा सब्र हो तो लक्ष्मी भी वास करे."

एक दिन बुढ़िया ने मुझे कहा था, "मैंने बड़े लाड़ से इसे पाला था. एक ही बेटा था.. जीवन का आधार.. मेरा गंतव्य. उसका बाप मर गया वरना उसकी इतनी हिम्मत पड़ती? जिस शरीर पर इतना गर्व करता है, वह मेरा ही बनाया हुआ है. दो खुद भी पाल रहा है, देखूंगी कितना सुख देगा." और उसकी आंखें भीग गयी थीं.

आज की मार से बेहोश हो गयी तो डॉक्टर को बुलाया गया. आस-पास के लोगों ने शिवा को बुरा-भला कहा. . . दुत्कारा भी. प्राथमिक उपचारोपरांत जब वह होश में आयी तो डाक्टर ने कहा, "इसका पेट खाली है. कुछ खिला दो". उसने मना किया, "नहीं. नहीं, आज जीतिया पर्व है. मेरा एक ही तो बेटा है. . मैं नहीं खाऊंगी." आंखें फिर डबडबा आयीं. □

112427

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टुकड़ा टुकड़ा एहसास

यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'

"गुलाबड़ी!"

"जी सेठजी!"

"मैं क्या सुन रहा हूं!"

". . . . . !" गुलाबड़ी मौन.

"अरे बोलती क्यों नहीं?" सेठ ने ज़रा झुंझला कर कहा, "गूंगी बनने से काम नहीं चलेगा."

"आप सब सुन चुके हैं."

"विश्वास कोनी हुवै, इस वास्ते मैं तुम्हारे मूंडे (मुंह) से सुनना चाहता हूं."

गुलाबड़ी ने अपना सिर झुका लिया. बिल्ली की खाल-सी कोमल उदासी उसके चेहरे पर थी. जो वातावरण उसके चारों ओर अभी लिपटा हुआ था, वह काफी आश्चर्यजनित तनावों से घिरा हुआ था. उसकी आंखों के नीचे के दायरे फैले-फैले-से लग रहे थे. वह इस घर की मात्र नौकरानी थी.

सेठ फिर बोला, "मैं तेरे मुंडे से सुनना चाहता हूं."

"सुनिए," उसने लंबा सांस लिया. खिड़की की राह अनंत आकाश फैला हुआ था. नीला-नीला. उसमें एक पक्षी अकेला बहुत ऊंची उड़ान भर रहा था. . . एक शांत उड़ान. उसे अपनी दृष्टि में भर कर वह बोली, "यह सच है कि मैं आपका काम-काज छोड़ कर जा रही हूं."

"क्यों?" सेठ चीखा.

"बस. . . . यूं ही. . ." उसने शांत भाव से कहा.

"ऐसे नहीं चलेगा? ठोस कारण बताना पड़ेगा. एक दिन का नाता नहीं है, पूरे एक जुग का नाता है. मेरे टाबरों (बच्चों) ने तेरे हांचल (आंचल) के साये में पनाह पायी है. तेरा दूध पिया है उसने."

गुलाबड़ी ने सेठ की ओर देखा. सेठ का खिचड़ीनुमा दाढ़ी से भरा चेहरा एक गहरे अपनेपन से भरा था. उसकी आंखों में कहीं मर्म था.. . . अवसाद भरा मर्म. वह फिर बोला, "सच गुलाबड़ी. . . . तुझे एक पल भी नहीं रोकूंगा. . . केवल यह जानना चाहता हूं कि तेरा इस घर से जाने का क्या कारण है?"

गुलाबड़ी उठी. उसके चेहरे पर जड़ता फैल गयी. उसके नयनों में एक ज्वलंत प्रश्न दीप्त हुआ. जैसे वह अपने आप से कहीं लड़ रही है. फिर वह बोली,

चित्रांकन: हरिप्रकाश त्यागी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाता करना चाहती हूं, मैं फिर घर बसाना चाहती हूं."

और वह तीर की तरह बाहर निकल गयी.

सेठ को लगा कि किसी ने उसे पथरीला कर दिया है. फिर भी उसने अपनी चेतना को बटोरकर सोचा—कड़ी मेहनत करने वाली लुगाई आसानी से हाथ से निकल रही है. मैं रोकने की चेष्टा करूंगा.

■

"गुलाबड़ी".

"क्या है?"

"क्या तू नाता कर रही है?" सेठ के बेटे की बहू ने पूछा.

"हां."

"जीवन गुमायके घर मांडने की तेरे मन अब क्यूं आयी? यदि ऐसा ही था तो विधवा होते ही नाता कर लेती? क्यूं धाय मां बनी. क्यूं अपने हांचल का दूध मेरे बेटे को पिलाया. तू जानती नहीं, तू मेरे बेटे की 'धाय मां' है, उसे दूध पिलाने वाली जननी है."

गुलाबड़ी ने सेठ के छोटे बेटे की बहू रुक्मणी को तीखी दृष्टि से देखा. फिर कहा, "मैं आपके बेटे की धाय मां हूं तो क्या हुआ? मैंने आपके बेटे को दूध पिलाया और आपने मुझे पैसे दिये हैं. इसमें गर्व-गौरव को बीच में लाने की क्या बात है?"

"ज़रा सोच कि तू किसकी धाय मां है? सेठ रामरतन के बेटे शिवरतन की धाय . . . . जिसकी लुगाइयां पांवों में सोने के जेवर पहनती हैं."

"मैं तो नहीं पहनती. मैं तो मोटा पहनती हूं और मोटा खाती हूं. यह कोई जीवन है? जीवन कुछ और ही है." उसका चेहरा तल्ख हो गया.

"जो तू इज्जत का जीवन जीती है, वह जीवन नहीं?"

"नहीं. . . यह तो केवल गुजर-बसर है," गुलाबड़ी ने कहा, "जीवन तो आप लोगों का है. बाल-बच्चे हैं. . . सास-ससुर हैं. . . धणी (पति) हैं. . . . हर सांझ तीतर की तरह टीका-टमका काढ़कर उसकी परतीक्षा करती हैं. . . मैं. . . ?" गुलाबड़ी की लुगाई के भीतर एक और लुगाई मानो प्रवेश कर गयी हो. वर्षों से प्यासी और अतृप्त लुगाई. वह खंखारकर बोली, "मुझे अपनी जिनगी अकारथ और बिरथा लगती है. मैं कई बार एक सपना देखती हूं—रेत के फैले हुए टीबे. . . धोरे ही धोरे. . . . उन धोरों के बीच में भूखी-तिसी पड़ी-पड़ी मैं कलप रही हूं, तड़प रही हूं. . . जोर-जोर से मदद के लिए हेला (पुकार) मारती हूं पर मेरी मदद को कोई नहीं आता! . . . मेरे पास कोई क्यों नहीं आता! . . बीनणी जी! ज़रा सोचिए, दरअसल मेरा अपना सगा कोई नहीं है. . . . केवल रोटी कपड़े के लिए जीना कोई जीना नहीं है. जबकि मैं अभी बूढ़ी नहीं हूं. केवल विधवा हूं."

"सच, तुझमें तो कोई भूतनी घुस गयी है." रुक्मणी ने पश्चाताप भरे स्वर में कहा, "कैसी अणूती बात करती है?"

"मैं कोई अणूती बात नहीं करती."

"फिर इतने साल. . . . ?"

"जब मन ने चाहा. . . . "

"आज रात तू थावस से सोच-विचार कर. कहीं ऐसा न हो कि सारी उमर चस्सर-चस्सर आंसू बहाती फिरे. गिरस्थी धरम सोरा (सरल) नहीं है. . . बहुत दोरा है. . . इसकी दोरप (कठिनाई) में बड़े-बड़े शूरमा हार खा जाते हैं. यहां आराम से मेरे टाबर-टींगरों को रमा और मस्त रह."

"उपदेश देना बड़ा ही सोरा है," गुलाबड़ी ने तीखेपन से कहा, "एक दिन शिवरतन बाबू नहीं आते हैं तब कैसी विकल होती हैं आप? ज़रा सोचिए. मैं भी तो लुगाई हूं."

और गुलाबड़ी अपनी कोठरी में चली गयी.

■

जाड़े की कड़ाके की ठंड. रात भी ऐसी लगती थी जैसे सर्दी में ठिठुर रही है. भयभीत सन्नाटा! कांच की खिड़कियों पर कोहरा सोया हुआ. चौक की रोशनी का बल्ब भी ठिठुरा-ठिठुरा लग रहा था. अंधेरा भैंसे की खाल की तरह पसरा-पसरा था.

गली के नुक्कड़ पर बसी किसी पंचायती कोटड़ी का सालों से नंगा पेड़ प्रेतात्मा-सा लग रहा था.

गुलाबड़ी सोच रही थी कि वह शादी करेगी. अपना घर बसायेगी. अपनी कोख भरेगी. उसके बाल-बच्चे होंगे. . . वह कब तक दूसरों के बच्चों को पालती रहेगी. कम-से-कम उसने दो सेठों के बच्चों को तो दूध पिला-पिला कर बड़ा किया है. . . आज तक वह दूसरों के लिए ही तो जीती रही है. . . क्यों जीती है? क्या फायदा है इस तरह जीने से?

गुलाबड़ी छींटदार रजाई में लिपटी हुई थी. जीरो वाट का बल्ब जल रहा था. मरा-मरा-सा. उसकी रोशनी बीमार व पीली-सी थी. बाहर ठहर-ठहर कर गंडक भोंक रहा था.

याद आया उसे!

उसका पति बीमार था. निमोनिया बिगड़ गया था. जाति की मालिन. गरीब. सब्ज़ी बेचकर पेट पालने वाली. दवा-दारू की सही व्यवस्था करे तो कैसे?

चार माह का बच्चा. . . एक साथ अनेक कठिनाइयां उसे घेरने लगीं. मानो उसके चारों ओर दलदल फैल गया हो. . . ऐसी स्थिति में गुलाबड़ी के समक्ष दुःखों की तड़ाका खड़ी हो गयी. क्या करें. आखिर गंगी मौसी ने उसे सेठ रामरतन के पोते की धाय रखवा दी. कुछ रुपये दिलवा दिये. . . अब गुलाबड़ी अपने बेटे को भूखा रखकर सेठ रामरतन के पोते को अपना दूध पिलाती थी. अपने बेटे को भूखा रखकर वह अपने सुहाग को बचाने के लिए कृत संकल्प थी. पर दुर्भाग्य उसका पीछा नहीं छोड़ रहा था. सुहाग के बचाने के चक्कर में न तो सुहाग रहा और न ममता!

पति भी मर गया और नवजात शिशु भी.

गुलाबड़ी के दुःख की वह चरम सीमा थी. वह महसूस करती थी कि चैत माह के पत्तों की तरह उसके सारे पत्ते झर गये हैं. . . सोती तो बिस्तर पर भरूट के कांटे चिपकते हुए लगते हैं. . . कभी-कभी तो वह इतनी विचलित हो जाती थी कि फफक-फफक रो पड़ती थी. उसे लगता था कि उसने ही अपने बेटे को मारा है. अपना दूध उसे न पिलाकर सेठ रामरतन के पोते को पिलाकर. . . ? वह कैसी लुगाई है?. . वह कैसी मायड़ (मां) है. . .? फिर धीरे-धीरे उसने सेठ रामरतन के पोते विजय को ही अपना बेटा मान लिया. . .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर रामरतन के दूसरे बेटे के बेटे अजय को भी . . . उसकी औरत उन बच्चों में ही नहीं, सेठ के पूरे परिवार के दस बारह-बच्चों में खो गयी. उस परिवार का उसे स्नेह भी मिला. . . धाय मां का ओहदा भी मिला. पर मन में कहीं असंतोष, ऊब और खालीपन पलता रहा. उसकी स्थिति उस बंजर धरती की तरह थी जिसके भीतर कोई ज्वालामुखी पल रहा था. वह कभी-कभी तटस्थ दर्शक की तरह देखती थी—संपूर्ण संतोष सुखों से लिपटी औरतों को, बच्चों पर दुलार बरसाती माताओं को और अपने पतियों की सेवारत बहुओं को. . . तब उसे अपना एकांत काटता था, अपनी जिंदगी की निरर्थकता का बोध होता था. . . उसे कभी-कभी यह भी महसूस होता था कि अब अचानक नारकीय यंत्रणाओं से ग्रस्त हो गयी है. विचित्र मनस्थिति थी उसकी!

इस बीच उसे अखाराम मिल गया. उसी की जाति और समाज का मर्द. अभी-अभी विधुर हुआ था.

उस दिन अखाराम ने उसे बाजार में देखकर कहा, "गुलाबड़ी!"

गुलाबड़ी थम गयी. समवेदना प्रकट करके बोली, "बहुत ही कोजा (खराब) काम हुआ. तेरी लुगाई अचानक मर गयी. मांदी (बीमार) नहीं रही. मांदी भी होकर मरती तो जी को थावस तो होता. क्या हुआ था?"

"बस, जी दौरा हुआ." कहने लगी, "जी में सोरप नहीं है. उल्टी-सी होगी. . . . ऐसा लग रहा है कि भीतर का सब कुछ निकलना चाहता है. . . . . उसने निंबू खाया. . . घबराहट बढ़ती गयी. . . बस फिर एक उल्टी हुई और खून के साथ प्राण भी बाहर निकल आये. . . .बस इत्ती देर लगी मरने में मेरी लुगाई को."

"मौत का कोई भरोसा नहीं, पल-छिन में आ जाती है. भगवान के सामने किसका जोर चलता है?. . . . कितने दिन हुए?"

"सवा महीना. . . . गुलाबड़ी, तू रीस न करे तो एक बात कहूं. देख, बहुत ही ठंडे व शांत मन से सोचना. . . . न पसंद हो तो थूक देना. . . . मैं बुरा नहीं मानूंगा. . . ."

"अरे! बोल तो सही."

"तू मुझसे नाता करेगी?. . . .मेरे घर में आयेगी. . . मैं दुबारा घर बसाना चाहता हूं. . . . .मरद-लुगाई की अकेले की जिनगी कोई जिनगी नहीं होती. . . मैं तुझे कभी भी दुख-संताप नहीं दूंगा. . . .दरअसल तू मुझे बहुत चोखी लगती है."

गुलाबड़ी ने कोई जवाब नहीं दिया था तब. वह लौट आयी. फिर उसने निर्णय कर लिया कि वह नाता करेगी. अपना घर बसायेगी.

▣

गुलाबड़ी खिड़की में बैठी थी. दोपहर की धूप गूंगी-सी फैली थी.

पांच-सात छोरे-छोरियां गली में 'पैल-दूज' खेल रहे थे. समीप तीन गायें और एक बछड़ा बैठे-बैठे जुगाली कर रहे थे.

एकाएक किसी बात को लेकर बच्चों में झगड़ा हो गया. एक बच्चा अपनी तोतली बोली में गालियां देने लगा. गुलाबड़ी को उसका बोलना बहुत ही चोखा लगा. बच्चे सोनार व ब्राह्मणों के थे. . . . . . गरीब और अधनंगे से. शरीरों पर सयाल थे.

वहां से थोड़ी दूर पर बीकानेर के गोगागेट के बुर्ज दिखाई पड़ रहे थे.

"गुलाबड़ी!"

वह चौंक गयी. देखा तो गंगी मौसी थी. गंभीर स्वर में बोली, "हां मौसी!"

"तुझे क्या हो गया?" मौसी ने आश्चर्य मिश्रित झुंझलाहट से कहा.

"कुछ नहीं?" सपाट उत्तर.

"फिर नाता करने की बात. . . . ?"

"मौसी . . . . नाता करना और घर बसाना कोई गुनाह तो नहीं है?" गुलाबड़ी बीच में ही संयत स्वर में बोली.

"गुनाह तो नहीं है पण इस उमर में आकर. . . ."

"मौसी! अठाइस बरस की उमर तो कोई ऐसी उमर नहीं है जिससे मन मर जाये."

"लेकिन बालन जोगी, तेरे भाग में धणी का सुख लिखा कहां है?" गंगामाई जरा तल्ख स्वर में बोली, "जदि सुवाग का सुख होता तो विधवा ही क्यूं होती?"

"गंगामाई, तू एकदम भोली-डाली लुगाई है." तूने अपनी सारी उमर सेठ रामरतन के घर में तिल-तिल गलाकर बिता डाली. जद तू मरेगी तब सेठ तुझे जला डालेंगे और तेरे हांड गंगा में डलवा देंगे. न तेरा नाम रहेगा और तेरा वंश. . . . मौसी! रोटी तो कु भी खाता है. क्या गली के गंडक मरते हैं? . . . .क्या मैं इन गंडकों से गयी बीती हूं.? . . .मैं सच कहती हूं करड़ी मैनत से जब खाली होती हूं मुझे लगता है कि मैं गीली ल की तरह सुलग रही हूं. मेरे रोम-रोम अजीब से कांटे खुभते हैं. सच मौ मुंह में पूर (कपड़ा) डाल कर सब देखती रहती हूं. . . . .छोटी बहूजी बार अपने धणी भैरूं को कहती है—"आप कुछ भी कहें पण बिना के लुगाई का जन्म बिलकुल बिरथ बिना पूत की लुगाई, लुगाई की लकड़ी की देवली लगती है. मैं आपके साथ कलकत्ता ही चलूंगी."

भैरूं बोला, "तूं भी जबरी लुगा यहां आराम से खाती है और पाडी तरह पसर कर सोती है?"

वह तुनक कर बोली, "क्या गली कुतिया खाकर पाडी की तरह नहीं सो मैं तो लुगाई हूं. मरद के बिना बिना चंदा की रात लगती है. साथ तो और भी सुख मिलेंगे."

. . . . गंगी मौसी. . . .मैं भी कई बरसों से ऐसा ही सोचती हूं में यहां से जाने के बाद जीने का नहीं हुआ था, पर अब सब हो गया है मौसी! मैं नाता करूंगी. अपनी को भरूंगी. इन सेठ-सेठानियों व बहू-बेटियों की तरह जीऊंगी. जिनगी. . . . . इस हवेली में गंडक नहीं जीना चाहती. . . . . मैंने हाज़िरी भरी है इस घर वालों वे मुझे घर से चोखी तरह विदा करेंगे?"

"तो तू मानेगी नहीं?" गंगी के स्वर में चुनौती थी.

"नहीं मौसी, कदापि नहीं." उ से कहा.

"किससे नाता करेगी?"

"अखाराम से."

"तो तुमने अपने लिए बींद भी छांट लिया."

गुलाबड़ी चुप रही.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौसी तुनक कर फिर बोली, "घर-गिरस्ती का रास्ता बहुत दोरा है, कठिन है. रांड गैली हो जायगी."

वह साहस से बोली, "हवेली में अकेले खाली काम से जूंझणे से तो सही जिनगी के लिए जूंझणा ज्यादा चोखा है."

"तेरा माथा खराब हो गया है. सोरी-सुखी हो गयी है न, इसलिए दिमाग उलटा सोचने लगा है."

"अपनी-अपनी समझ."

"कर, तेरी मर्ज़ी आये." गंगीमाई नाराज़ होकर लकड़ी टेकती हुई चली गयी.

▣

"तेरा नाता करने का जोग नहीं है."

"क्यूं?"

"अखाराम तुझसे नाता नहीं करेगा." सेठ के बेटे शिवरतन ने कहा.

"आपको कैसे मालूम?" गुलाबड़ी ने आश्चर्य से पूछा.

"मैंने उससे पूछा था. वह तो इंकार कर रहा था."

"आपने. . . . . ?" भृकुटियां तन गयीं गुलाबड़ी की.

"अरे! वो तो मेरे साथ यहां भी आया है."

"कहां है वो?" गुलाबड़ी ने चीख कर पूछा.

"बाहर खड़ा है."

गुलाबड़ी क्रोध में फुंफकारती नागिन की तरह लपकी. वह चिल्लाकर बोली, "कपटी! तू-मुझसे नाता नहीं करेगा?"

रणचंडी-सी लग रही थी वह.

अखाराम उसकी एक डांट में ही डर गया. घिघियाने लगा. गुलाबड़ी ने उसका गला पकड़कर कहा, "कमीने! तेरे अंदर ज़रा-सी सच, गैरत नहीं है. बात करके मुकरता है. तू तो अपने बाप का बेटा भी नहीं लगता. मैं तेरी खाल खींच लूंगी, मेरी इज्जत से खेलता है. तूने गुलाबड़ी को समझ क्या रखा है?"

सारी हवेली के लोग-लुगाइयां इकट्ठे हो गये. अखाराम कांप गया. फिर जब गुलाबड़ी ने उसे धक्का दिया तो उसकी सारी हिम्मत टूट गयी. शिवरतन ने बीच-बचाव करना चाहा तो गुलाबड़ी ने बारूद की तरह फट कर कहा, "खबरदार, जो हमारे बीच में आये तो. . . ? हम अपना फैसला कर लेंगे. . . . बोल, तू कौल से मुकरता क्यों है?"

"मुझे शिवरतन बाबू ने सौ रुपये देने को कहा. . . . मुझे उन्होंने ही भड़काया, मैं तो तैयार हूं. . . . तुझसे नाता. . . . "

"अच्छा तो यह बात है?" गुलाबड़ी कमर में ओढ़ना खोंस कर भड़क उठी, "आपके बच्चे को मैंने दूध पिलाया, उस दूध की 'पत' आपने ऐसे रखी?. . .मैंने अपने बेटे को भूखा मार-मार कर मार डाला और आपके बेटे को जिंदा रखा, शिवरतन बाबू! आपने उसका यह बदला दिया?. . . सच, तुम सब लोग कितने ओछे और स्वार्थी हो. . . अपने स्वार्थ के अलावा तुम लोगों को कुछ सूझता ही नहीं. . . . खैर, यही बदला सही."

और वह भीतर जाकर अपनी गठरी उठा लायी, "आज से मैं तुम लोगों से भी अपने नाते-रिश्ते तोड़ती हूं. . . .थू है ऐसे आदमियों पर!" . . . . वह अखाराम की ओर मुड़कर बोली, "और तू तो मेरे जैसा गरीब था. तेरा ज़मीर भी मर गया? सौ रुपये में अपना 'मानखा' (मनुष्यता) बेच दिया?. . . अपना सच बेच दिया? थू है तुम पर. . . . यदि ज़रा भी गैरत है तो चुल्लू भर पानी में डूब जा."

"मुझे माफ. . . . "

"तुझे जीवन भर माफ नहीं करूंगी. . . तुझ, तुझ पर कैसे भरोसा करूं? . . .जो मुझे अभी सौ रुपये में छोड़ सकता है—वो बाद में पांच सौ रुपये में बेच भी सकता है. . . . . तुझ जैसे मरद को तो लानत है. जो मरद लुगाई को लुगाई न समझ कर कोई चीज समझे, उस मरद को मैं अपनी सायल इस जन्म में क्या, सात जन्मों में भी नहीं दिखाऊं. . . .दूर हो जा मेरी नज़र से. . . . .मैं अपने आप नाता कर लूंगी. . . . रामला. . . किसन. . . मूलिया . . . .बहुत सारे मरद हैं. . . यदि माली जाति में न मिले तो मैं दूसरी जाति में चली जाऊंगी, पर तुझ पर नहीं थूकूंगी. . . . और शिवरतन बाबू!. . . . अपने घर को उजाड़ कर तेरे घर को बसाने वाली गुलाबड़ी अब अपना घर जरूर बसायेगी! आपको जितनी दीवारें खड़ी करनी हैं, कर लीजिए. मैं जानती थी कि आप मुझ गरीब को यही इनाम देंगे?"

उसकी बड़ी-बड़ी आंखें भर आयीं. फिर वह घृणा से थूक कर हवेली से बाहर निकल गयी.

एक लानत भरा सन्नाटा चीखता हुआ हवेली पर फैल गया. □

साले की होली, बीकानेर-334001

ग़ज़ल

त्यौहार की सुबह ही अगर खुशनुमा नहीं,
तो और कुछ हैं आप मगर रहनुमा नहीं.

कल तक थी जिनके कांधों पै यारों की पालकी,
यह उनने कहलवाया है, मेरा बयां नहीं.

कल जो बहायी आपने थी दूध की नदी,
मेरे हुज़ूर! उसका तो मीलों पता नहीं.

किरनों के संग आ रही हैं फिर उदासियां,
सूरज तो कहीं आपका भी बदगुमां नहीं?

खामोश मुझे कर न सके ज़ुल्फ़ के सितम,
मैं आईना हूं आपका, पर बेज़ुबां नहीं.

▣ बालकवि बैरागी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिस्टोबल मिरांडा

▣ प्रणवकुमार वंद्योपाध्याय

एक उजली सूर्य किरण में
मैं तुमसे खाड़ी में मिला था, क्रिस्टोबल!
तब सागर की तरफ़ तेज
सोडियम नाइट्रेट की हवाएं थीं
जलती हुई नवंबर में.
मुझे आज भी स्मरण है वह
विमुक्त आनंदतर मन
वे धातु की पहाड़ियां, वे स्थिर जल.
और वे सिर्फ़ मल्लाह थे
जो बहती हुई बर्फ़ के साथ भी
चलते रहे आनंदित.
वह नाइट्रेट का हिम-प्रवाह
वेदनार्त कंधों पर आता रहा
जहाजों के निश्चेष्ट उदर में
प्रविष्ट होकर.
वे सूर्यमुक्ति की श्रेष्ठी बत्तखें
तब वहां थीं
जिनकी समाप्ति तेज़ाबों में ही
हो चुकी और
जो मृत्यु के लक्ष्य तक के लिए
नाइट्रेट के सैलाब में अंगीकारबद्ध हैं.

—पाब्लो नेरूदा

सुबह मैं चाय के लिए लाउंज पर उतर ही रहा था कि दिन का पहला अभिवादन मिल गया, "गुड मॉर्निंग डॉक्टर!"

मैं हार गया. कल रात ही से जो सोचता रहा, वह आखिर नहीं ही हो पाया. मैंने तय कर लिया था कि पहले

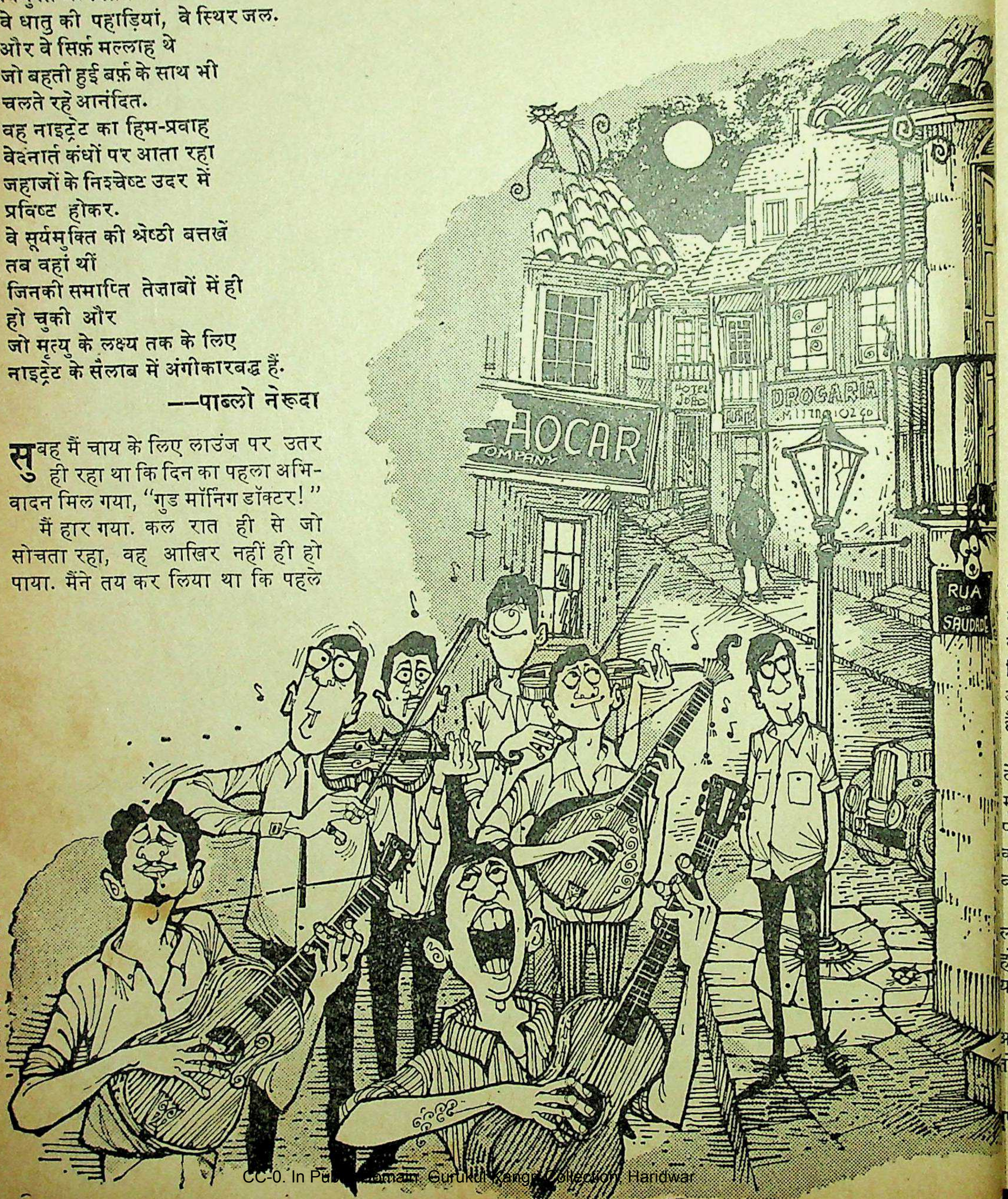

चित्रांकन : मारियो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्र

डा

न्याय

मैं 'विश' करूंगा. कुछ मामलों में मैं क़तई आलसी नहीं हूं लेकिन कुछ लोग होते ही ऐसे हैं कि उनके सामने हारना ही पड़ता है.

ख़ैर, मैंने अभिवादन का उत्तर दिया, "वैरी गुड मॉर्निंग स्वीट मैम!"

स्वीट मैम चार बरस की एक लड़की की तरह हंस पड़ती हैं. ऐसी ख़ूबसूरत हंसी इससे पहले मैंने आज तक किसी औरत के होंठों पर नहीं देखी थी. वह मुड़ती हैं और चाय की ट्रे लेने अंदर चली जाती हैं.

लाउंज पर मुझसे पहले ही शेफ़िल्ड का टोरी टिंबेल अपनी दोस्त लिज़ा के साथ बैठा हुआ था. अभी कल ही शाम मैं यूथ हॉस्टल लौटने के लिए बस स्टॉप पर बग़ल में खड़े व्यक्ति से पूछ-ताछ कर ही रहा था कि एक अंग्रेज़ पर्यटक ने भाई (ब्रदर) कहकर मेरी मदद करनी चाही. यह टोरी था. पांजिम की वह शाम मेरे भीतर धंसती चली गयी! स्वामी विवेकानंद जब अमेरिका गये थे, वहां धर्म-सम्मेलन में उपस्थित जन समुदाय को भाई और बहन कहकर संबोधित किया था! यह संबोधन सुनकर समूचा अमेरिका स्तब्ध रह गया था. रहना ही था. इतना बड़ा प्रेम किसी को मिले तो वह स्तब्ध क्यों नहीं रह जायेगा!

कल शाम मैं भी उसी तरह स्तब्ध हुआ था. सात समंदर पार का टोरी मेरे सामने था और मैं लगातार महसूस करता रहा कि मेरा भाई, मेरा यार साथ में है. यह संबोधन मेरे लिए नया तो नहीं है, फिर? हिंदुस्तान की तो मिट्टी का ही संस्कार है कि हम दूसरों को भाई कहकर ही पुकार लेते हैं, लेकिन टोरी की विलायत की मिट्टी यह रस्म कहां जानती है? अब मैं अच्छी तरह समझ गया कि टोरियों का हुजूम चुप नहीं बैठा रहेगा और आज न सही, कल का विलायत वही ज़ुबान समझेगा, जिसे बोलने की परंपरा यहां वेदों की रचना से भी पहले से चली आ रही है.

स्वीट मैम चाय की ट्रे लेकर अब वापस आ गयी हैं.

हम लोग ट्रे में से अपना-अपना मग उठा लेते हैं और टोरी लिज़ा के साथ हिंदुस्तान के गांवों में महीनों फिरते रहने के अनुभव बयान करने लगता है. स्वीट मम एक आदिवासी अल्हड़ युवती की तरह मुग्ध होकर टोरी का एक-एक शब्द सुन रही हैं. ऐसी विमुग्धता आदिवासी अल्हड़ युवती के अलावा घोंसले में से आसमान की तरफ़ देखते उस चिड़िया के बच्चे की दृष्टि में होती है, जिसकी आंखें अभी-अभी खुली हों.

मेरी आदत शुरू से ही बहस करने की है. स्वीट मैम को देखकर ईर्ष्या होती है कि थोड़ी-सी किराये की ही विमुग्धता मुझे मिल जाती तो क्या हर्ज़ था? टोरी मिट्टी का इंसान है. उसे पता है कि हवा, पानी, मिट्टी और आदमी की सांसों की तक़लीफ़ों का क्या मतलब है! ऐसा कोई शख़्स हमेशा कहां मिलता है? बस, हमारी बहस शुरू हो जाती है.

लिज़ा भी बीच-बीच में बोलती है. वह अभी एक कच्ची लड़की है, कच्ची मिट्टी के लौंदे जैसी. लेकिन जिसका दोस्त टोरी हो, उसकी समझ, उसकी परिपक्वता समंदर की तरह बनेगी, यह मैं बग़ैर किसी शुबहा के समझ गया.

विलायत का टोरी जान गया कि 'आदमी' शब्द का क्या अर्थ है? इसीलिए उसे कष्ट होता है कि लोग मंगलग्रह तक की ख़बर की तलाश में लगे हैं लेकिन 'आदमी' का अर्थ कोई जानना नहीं चाहता.

स्वीट मैम बिना पलक झपकाए हमारी बहस सुन रही हैं.

बाहर थोड़ी बूंदा-बांदी हो रही है और नौ बजने वाले हैं. आज मुझे अंजुना बीच पर घूमना है. वहां कई देशों के हिप्पी डेरा डालकर रहते हैं. उन लोगों से बातचीत करने की मेरी चाह बरसों पुरानी है. बरसों से मैं जानना चाहता हूं, वे मनुष्य और ज़मीन को क्या समझते हैं....

टोरी को भी लिज़ा के साथ घूमने के लिए निकलना है. बहस बढ़ सकती थी लेकिन मैंने वहीं फुलस्टॉप लगा दिया. निकल ही रहा था लेकिन एक सेकेंड के लिए रुक गया. स्वीट मैम से बग़ैर कुछ सोचे पता नहीं क्यों वही सवाल कर लिया, जिसकी टीस उनके दिल को बरसों से बेचैन कर रही है. मैंने उनके बच्चों के बारे में सवाल किया था.

फ्लोरेंस नाइटंगिल कभी नहीं रोयी होंगी. स्वीट मैम भी उस वक़्त रो तो नहीं पड़ी थीं लेकिन चेहरा स्याह हो गया था. यूथ हॉस्टल की बग़ल में मांडवी नदी बह रही है. मांडवी कोई क़ायदे की नदी नहीं, अरब सागर की एक उन्मत्त और चपल खाड़ी है. लेकिन इस खाड़ी को गोवा के लोग नदी कहते हैं. इस वक़्त का अरब सागर का सारा ज्वार क्या मांडवी में ही आ गया? स्वीट मैम तो ख़ामोश हैं लेकिन बरसात की मांडवी की सारी लहरें उनके दिल के पाटों को मेरे सवाल के बाद इस तरह मोड़ देंगी, मैं कहां जानता था?

▣

टोरी और लिज़ा पांजिम छोड़कर बंबई चले गये हैं. वहां से वे इंग्लैंड के लिए रवाना होंगे. इत्तफ़ाक़ है कि उनके चलते समय मैं हॉस्टल में नहीं था और इस वजह से टोरी को बहुत कष्ट हुआ. उसकी मेरे नाम रखी चिट्ठी इस बात का सबूत है.

स्वीट मैम देर तक टोरी और लिज़ा के प्रेम और समझ के बारे में बातें करती हैं. इस वक़्त मैं लगभग चुप ही रहता हूं. एक श्रोता की तरह. कभी-कभी मुझे सुनना बहुत अच्छा लगता है. और फिर सुन चुकने के बाद लगता है कि बहुत संपन्न हो गया हूं. एक अदद औरत मां की तरह जब हंसती है, मैं ही क्यों, कोई भी इससे अपने को संपन्न ही समझेगा.

अब वह थक गयी हैं क्या? वर्ना इस तरह चुप नहीं हो जातीं! मैं भी कुछ नहीं कहता. लाउंज की खिड़कियों से मांडवी दिखाई पड़ती है. आवेगमयी, नवयौवना की तरह मांडवी थिरक रही है. मैं वही देख रहा हूं.

स्वीट मैम फिर लंबी चुप्पी के बाद चित्रा की कहानी शुरू करती हैं. चित्रा को तो मैंने कभी नहीं देखा लेकिन उसकी मां, छप्पन बरस की लिली भागवत को जानता हूं. बहुत कम अरसे में अच्छी तरह जान गया कि लिली भागवत हिंदुस्तान की सबसे ख़ूबसूरत औरत है.

▣

चित्रा कौन है?

मेरे ज़हन में इस नाम से जो तस्वीर उभरती है, उससे यह लड़की बिल्कुल मेल नहीं खाती. दूब की कलगियों पर सुबह का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओस मणि की तरह चमकता है. यह देखकर कोई मारे खुशी के पागल क्यों नहीं हो जाता? चित्रा भी स्वीट मैम की आंखों में हू-ब-हू उसी तरह चमक रही है. और यह बात मेरे सिवाय कोई नहीं जानता.

मैं समझ गया, यह लड़की माइकलेंजलो की प्रेमिका हो सकती थी. तमाम संभावनाओं के बावजूद पता नहीं क्यों ऐसा नहीं हुआ! चित्रा एक अदद आर्टिस्ट का नाम है. स्वीट मैम ने मुझे उसकी तमाम पेंटिंग्ज़ दिखायी. यामिनी राय और राम किंकर के गांवों से लेकर पाब्लो पिकासो तक की तमाम दूरियां चित्रा में उतर आयी थीं. वह पेंटर थी लेकिन नर्तकी भी थी. एलबम में मैंने उसके नाचने की मुद्राओं की तस्वीरें देखीं.

"लेकिन असल में वह लड़की क्या थी, मालूम?" स्वीट मैम ने मुझसे यूं पूछा, जैसे मैं उनकी बेटी से मांडवी के 'बीच' पर अक्सर मिलता रहा हूं.

मैं एकदम चुप. इस सवाल का क्या जवाब हो सकता है?

अभी यूथ हॉस्टल के पर्यटक घूमने के लिए निकल पड़े हैं. इतने बड़े मकान में अब सन्नाटा-सा है और मैं अपने सामने बैठी स्त्री की एक-एक सांस की आवाज़ तक सुन रहा हूं. ऑफिस में अभी कर्नल भागवत बैठकर रोज़मर्रा के काम निबटा रहे हैं. कर्नल, यूथ हॉस्टल के वार्डन और स्वीट मैम के पति हैं. मैं सोचने की कोशिश करता हूं. शादी के बाद दुलहन का घूंघट पहली बार हटाकर कर्नल किस तरह चकित हुए होंगे.

"तुम्हें नहीं मालूम न?" मैम की आवाज़ थी यह.

मैं चौंका. चौंकने के अलावा मैं और कर ही क्या सकता था? जवाब मुझे मालूम नहीं है और मैं आकाश-कुसुम सोचे जा रहा था.

"वह एक प्रेमी लड़की थी. ख़ास तौर पर बच्चों से उसका बहुत लगाव था."

इतना मैं ही क्यों, मेरे दुश्मन भी यक़ीन करेंगे. लिली भागवत की बेटी के संस्कार में प्रेम तो होना ही है.

पाठक, आप जानते हैं कि चित्रा की अब सिर्फ़ स्मृति रह गयी है. मांडवी की लहरों से रेत पर जो घाटियां बनी हुई हैं, वे बताती हैं, कभी जल यहां तक आया था. इससे आगे न कोई कुछ पूछता है, न ये धारियां ही बताती हैं.

लेकिन मैंने सब कुछ जानना चाहा था. एक बेहद ख़ूबसूरत औरत के जिगर में कितना बड़ा ज़ख़्म अंगारे की तरह छितरा पड़ा है, पांजिम शहर का कोई भी तो नहीं जानता.

चित्रा बच्चों से कितना प्यार करती रही होगी, उसके अधूरे पड़े खिलौनों से कोई भी समझ जायेगा. वे सारे खिलौने अब क्या, बस, यूं ही पड़े रहेंगे? कभी-कभी खिलौने भी बोलते होंगे. यूथ हॉस्टल के वार्डन के घर में कभी-कभी उनके भी दिल से हूक निकलती होगी.

पाठक, क़लम की शक्ति बहुत कम होती है. कई दफ़ा शब्दों से हम समझा नहीं सकते कि जिगर की हालत क्या है! स्वीट मैम के जिगर में कितना बड़ा ज़ख़्म पल रहा है! वर्ना आप समझते, बहुत बड़ी सच्चाई और विमुग्धता के बीच असल में कुछ भी फ़र्क़ नहीं होता.

अब पहली बार वह रोयीं.

मैं एकदम ठंडा पड़ गया.

समूचा पांजिम शहर जानता है कि चित्रा आर्ट और बच्चों की तक़लीफ़ों के बीच बड़ी मुहब्बत से जीती रही है. बरसों पहले मैंने एक कविता लिखी थी—'मृत्यु के बाद पारमिता का शैशव'. अब लगता है, पारमिता भी चित्रा की तरह 'मीरामार बीच' पर जंगल के ठीक सामने हर सुबह सूरज उगते समय नाचती रही है. चित्रा की तरह पारमिता को भी मैंने कभी नहीं देखा. यक़ीन मानिए, देखने की इच्छा भी कभी नहीं हुई! लेकिन मैं जानता हूं, लोगों के कष्टों में हर पल पारमिता गुमसुम आंखों में चुप बैठी है.

पाठकों को न सही, मेरे आलोचकों को लगेगा—यह एक ग़ैरज़रूरी सेंटीमेंट है. और खुलकर कहूं तो कहना यही पड़ेगा कि उनका ख़्याल होगा—यह एक भावुकता की फ़सल है. किसी को कुछ भी लगे, मेरे लिए तो यह एक बहुत ज़रूरी और खुरदुरा यथार्थ है.

. . . .अभी मांडवी पर तेज़ हवा बह रही है. सामने सफ़ेद अगुआदा फोर्ट है. पुर्तगालियों की आख़री निशानियों में से एक. अगुआदा का हिंदी अर्थ है—मीठे पानी का मातृ-स्रोत. हज़ारों बरस से इंसान मां की मुहब्बत की तरह दुनिया को बनाने के लिए सोचता रहा है. मां का प्यार आदमी को कितनी राहत देता है, स्वीट मैम के साथ गुज़रे एक-एक पल ने बता दिया.

अरब सागर में पश्चिम की तरफ बढ़ते जहाज अगुआदा से मीठा पानी भरकर सफ़र में जाते थे. पुर्तगालियों के ज़माने में यही रिवाज था. मैंने उस आदमी के नाम की बहुत तलाश की, जिसने 'अगुआदा' को पहली बार पुकारा था. मैं इतिहास का विद्यार्थी क्यों नहीं बना, यह मलाल दिल में हो रहा था. वर्ना गोवा छोड़ने से पहले ही 'अगुआदा' के प्रथम उच्चारक का नाम ज़रूर पता हो जाता.

लेकिन बातें मैं स्वीट मैम की बेटी, चित्रा की कर रहा था. कई बार मुझे लगता है, बातें भले ही अलग लगें, उनका सूत्र एक होता है.

"चित्रा अपनी बच्ची तक को देख नहीं सकी थी." स्वीट मैम लगभग फफक पड़ीं.

मैंने नहीं पूछा कि क्यों ऐसा हुआ? इस 'क्यों' का जवाब समंदर की गहराई भी तो नहीं दे सकती!

बच्ची के जन्म के बाद चित्रा बेहोशी में पच्चीस दिन तक मौत से जूझती रही, फिर जूझने की सारी ज़रूरतें ही ख़त्म हो गयीं. उसकी चिता की राख को कलश में भरकर मैम ने समंदर के नीले पानी में बहा दिया था. फिर शायद कभी कई बरस बा दुनिया के अलग-अलग गांवों में अलग-अलग नामों से अपनी चिता भस्म से चित्रा पैदा होगी और इसी मांडवी के किनारे रेत प बैठी उसकी मां दूर से आते हर जहाज का इंतज़ार करेगी.

. . . . कर्नल को भी यही दुख है! जो लड़की बरसों बच्चों इस क़दर मुहब्बत करती रही है, उसने अपनी आत्मजा तक क्यों नहीं देखा?

यह सवाल कर्नल ही नहीं, सारा पांजिम शहर कर रहा हालांकि वे सब जानते हैं, यह कोई सवाल ही नहीं हुआ. इसका कोई जवाब भी नहीं है.

मैं बच गया हूं. स्वीट मैम मुझसे कम से कम यह सवाल कर ही सकती थीं. अगर वह करतीं तो क्या सिर्फ़ चुप रहकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं अपना बचाव कर पाता? नहीं मालूम. मैं अब कुछ और मालूम भी नहीं करना चाहता.

ड्राइंगरूम में अपनी ही पेंटिंग के नीचे चित्रा की एक तस्वीर पड़ी है. पेंटिंग चित्रा ने तब बनायी थी वह जब शांतिनिकेतन के आर्ट कॉलेज में थी. यह वीरभूम जिले की एक संथाली लोककला का नमूना है.

. . . . और तस्वीर के सामने एक थाली में कुछ फूल पड़े हैं. हर सुबह अपने हाथों से फूल चुनकर स्वीट मैम चित्रा का अभिवादन करती हैं. इस अभिवादन में कोई भावुकता नहीं, एक गहरा ममत्व है. और सुबह अभिवादन के वक़्त मैम को याद आ जाता है कि वह एक फ़ौजी की बीवी हैं. जिसके उसूल सैनिकों की तरह ही चट्टानी हैं.

▣

दरवाज़े पर दस्तक.

"प्लीज़ कम इन." मैं बोला. लेटा हुआ कुछ पढ़ रहा था. अब उठ बैठा.

स्वीट मैम अंदर आयीं, "खाना खाने नहीं गये डॉक्टर?"

हड़बड़ाकर मैंने 'डॉक्टर' संबोधन पर खीझ जता दी, "डोंट कॉल मी डॉक्टर. माई फर्स्ट नेम इज़ प्रणव."

"लेकिन तुमने आखिर मेहनत करके डॉक्टरेट भी तो ली है. तुम्हारा हक़ भी है और मुझे 'डॉक्टर' पुकारना भी अच्छा लगता है." अब वह उलाहना देती हैं, "मगर लंच लेने क्यों नहीं गये? तबीयत तो ठीक है?"

मेरी तबीयत के बारे में इससे आधी शंका भी कभी किसी ने ज़ाहिर नहीं की. ज़िंदगी में और भी हजारों मौके ऐसे आये, जब भूखा रहा हूं लेकिन इतने ममत्व से पहली बार ही किसी ने मेरी खोज-खबर ली.

बाहर बहुत तेज बारिश हो रही थी. यूथ हॉस्टल में रहने की तो व्यवस्था है लेकिन खाना बाहर जाकर ही खाना पड़ता है. पिछले तीन-चार दिनों की मटरगश्ती की वजह से मैं इतना थका था कि मैम से रेनकोट लेकर खाना खाने बाहर जाने की तबीयत नहीं हो रही थी.

"आज फ्रूट-सैंडविच खाने का इरादा है." मैंने कहा और बगल में पड़े केले और ब्रेड दिखा दिये. दिखा देने के बाद मैं झेंप रहा था. केलों के रंग काले हो रहे थे और ब्रेड पर फफूंद-सा उग रहा था.

मैम आंखें फाड़े मेरा भोज्य पदार्थ देखती रहीं. फिर वह एकाएक संजीदा हो गयीं और मुझे हुक्म-सा सुना दिया, "मेरे साथ नीचे चलो और खाना खाओ."

ज़ाहिर है, इस हुक्म के बाद कोई विकल्प नहीं रह जाता. कोई मां जब बेटे के लिए थाली में खाना परोसती है, भला उसमें विकल्प हो भी कैसे सकता? लेकिन मेरे भीतर जो दो-टकिया आभिजात्य है, वह मुझे रोकता है. इस निर्विकल्प निर्देश के बावजूद मैं तकल्लुफ में ना-ना ही करता रहा, लेकिन मेरी यह अस्वीकृति मैम के निर्देश के सामने कितनी बौनी थी . . . आखिर मुझे वार्डन के अपार्टमेंट के डाइनिंग टेबल तक आना ही पड़ा.

कर्नल यूथ हॉस्टल के दफ़्तर में काम कर रहे हैं और इस सजे हुए घर में एक अदद औरत मुझे खाना खिला रही है. जैसे उसे अच्छी तरह पता है कि मैं कितना खाना खा सकता हूं. वर्ना मेरे नकली आभिजात्य के ना-ना करने के बावजूद वह इस तरह ज़बरदस्ती नहीं करतीं.

सुबह उठकर सबसे पहले किसका चेहरा देखा था, याद नहीं है. सुनने में आता है, अन्नपूर्णा का अन्न इस बात पर निर्भर करता है कि सुबह उठकर व्यक्ति सबसे पहले किससे टकराता है! मेरी दादी इसी तरह कुछ कहा करती हैं. खैर, दिमाग़ में काफ़ी ज़ोर लगाने के बावजूद याद नहीं आया, सुबह आंख खुलने के बाद मैंने सबसे पहले किसे 'विश' किया था.

खाना मैंने डीलक्स फाइव स्टार होटलों से लेकर ढाबों तक में असंख्य बार खाया है. ज़ाहिर है कि इन असंख्य बारों में ढाबों में ही खाना खाने की संख्या अनगिनत रही है. मुझे अच्छी तरह याद है, आज तक कितनी बार फाइव स्टार होटलों में घुसा हूं . . . और यह भी याद है कि इतनी तृप्ति से खाना और कहीं भी तो नहीं खा सका.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीट मैम मुझे अपनी ज़िंदगी की कहानी सुनाती हैं. अगर उनका बश चलता तो कुछ कहने की बजाय अपनी छाती चीर कर दिखा देतीं कि उनकी कहानी में कितनी बेरुखी सच्चाइयां हैं!

अचानक वह रुकती हैं, "तुम शायद बोर हो रहे हो?"

मुझे झटका-सा लगा. बोला, "मैं सिर्फ़ तुम्हें सुन रहा हूं, मैम!"

"ओह, सॉरी! कभी-कभी मुझे पता नहीं क्यों लगता है कि कुछ भी बोल नहीं पा रही हूं या फिर बोलते हुए सारा कॉन्टेक्स्ट् इस तरह दिमाग़ से स्लिप कर जाता है कि याद ही नहीं आता, अभी एक सेकेंड पहले क्या कह रही थी!"

मुझे जबरदस्त ताज्जुब होने लगा. इस बीमारी का शिकार मेरे अलावा भी कोई और है, पहली बार पता हुआ. पेशे से मैं इकोनॉमिक्स का प्राध्यापक हूं. कई दफ़ा ऐसा हो जाता है कि लेक्चर देते हुए मैं बिल्कुल 'ज़ीरो' हो जाता हूं. यह 'ज़ीरो' भारतीय तर्कशास्त्र का शून्यवाद नहीं है. इसका कोई दार्शनिक अर्थ भी नहीं होगा. यह 'ज़ीरो' क्लास में लेक्चर सुनते विद्यार्थियों के सामने मुझे कितना असहाय कर देता है, उसे शायद स्वीट मैम ही समझ सकेंगी.

मैं खाना खा चुका था.

मैम मुझे अपने 'बेडरूम' में ले गयीं. ड्राइंग रूम के साथ वाला कमरा ही उनका बेडरूम है. एक मंझोले आकार का कमरा और उसके बीच एक सामान्य क़िस्म का बिस्तर. बिस्तर के ठीक सामने स्टडी टेबल और बगल में योगेश्वर कृष्ण की एक तस्वीर. उसके साथ ही बनारस की आनंदमयी मां की भी एक फ्रेम की हुई तस्वीर.

स्टडी टेबल के कांच के नीचे ढेर सारे फोटोग्राफ़्ज़ सजाये हुए हैं. ये सब चित्रा की यादों की कहानी कहते हैं. स्टडी पर मैम कोई किताब पढ़ती होंगी क्या? यह नामुमकिन है. वह पढ़ ही नहीं सकतीं. वह चुप बैठी तब तक तल्लीनता में चित्रा की तस्वीरें देखती होंगी, जब तक बाहर के दरवाज़े पर लगा कॉलबैल खनखना कर उन्हें चौंका नहीं देता होगा. यह यूथ हॉस्टल है. देशी-विदेशी युवा पर्यटकों का सस्ता-सा आवास. गहमा-गहमी हमेशा लगी ही रहती है. और कर्नल के साथ मैम को पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि किसी को कोई तकलीफ़ न हो.

आखिर मैंने कह ही दिया, "आई हैव फॉलेन इन लव विद यू. माई लव इज एक्सक्लूसिव." मैंने 'एक्सक्लूसिव' शब्द पर बहुत ज़ोर डाला.

इस तरह के शब्द मुझसे पहले भी हज़ारों पर्यटकों ने मैम से कहे होंगे. मुझे उन लोगों से ईर्ष्या होने लगती है. काश ये वाक्य मैं ही पहली बार कहता!

मैम के होंठों पर मुस्कराहट है. वह मुझे घूरने लगीं. "नॉटी ब्वाय!"

फिर हम दोनों देर तक मज़ा लेकर हंसते रहे.

मुझे पूरा यकीन है, इस यूथ हॉस्टल में काम करने वाले धोबी माली, जमादार और नौकरों के मन में भी वे ही शब्द होंगे, जो मैंने थोड़ी देर पहले कहे हैं. मैं उन लोगों के सामने वाकई खुशकिस्मत हूं जो बात वे झिझक के मारे कह नहीं पाते. मैं पूरी आज़ादी जता-कर इत्मीनान से यूं कह गया जैसे लिली भागवत से मेरी बरसों पुरानी आत्मीयता हो. किसी भी संबंध की गहराई क्या समय की लंबाई से ही मापी जा सकती है? क्या यह मुमकिन नहीं है कि पल भर में कोई उस गहराई तक पहुंच जाये जो लोग बरसों के सफ़र के बावजूद नहीं पहुंच पाते....? मैं कैसे अस्वीकृति में गर्दन हिला दूं? मेरा अनुभव मुझे कहां तक ले गया है, इसे कौन समझेगा?

मैम जिस अभिजात वर्ग से निकली हैं, वहां के लोग गर्द-गुबार में सनी आत्माओं की खबर नहीं रखते. पांजिम पहुंचने के बाद ही मेरा यह यकीन टूटा. छोटे-छोटे लोगों के बारे में फ़िक्र कर यातना पाने वाले इस वर्ग में भी कुछ अपवाद क़िस्म के लोग हैं, अब मैं विश्वास करता हूं.

सवाल है यातना का. प्रेम के बग़ैर यह यातना कोई कभी क़बूल नहीं कर सकता. धूल सने लोगों की आत्माओं से पांजिम शहर की फ्लोरेंस नाइटंगिल किस हद तक इश्क करती हैं, मैंने अपने फ़ासले से देख लिया. मैम का कुटुंब इतना बड़ा है कि उसमें धोबी, मोची से लेकर यूथ हॉस्टल में आने वाले पर्यटकों तक हर कोई समा गया है.

वार्डन का अपार्टमेंट बहुत खूबसूरत है. मांडवी के किनारे यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर इतना छायाशीतल है कि मुझे गंगा के कछारों पर बसे गांवों की बात याद आ गयी. मेरा बचपन ब्रह्मपुत्र की घाटी में बीता है, पांडू में. पांडू एक वर्णनातीत हरी घाटी है. कभी-कभी मैं गंगा और ब्रह्मपुत्र के बीच का फ़ासला भूल जाता हूं और लगने लगता, गंगा के कछारों में बसे बहुत सारे गांवों में से एक पांडू भी है. अब लगा, मांडवी के 'मीरामार बीच' पर स्वीट मैम का यह अपार्टमेंट भी पांडू ही है.

मैम ने मुझे टोक दिया, "यह पूरा यूथ हॉस्टल ही मेरा अपार्टमेंट है."

जो लोग मैम को नहीं जानते, इस वाक्य को नाटकीय संवाद से ज़्यादा अहमियत नहीं देंगे. लेकिन मेरे पास तो एक-एक बात का सबूत है. यह मेरा बौनापन नहीं तो और क्या होगा कि बग़ैर सबूत के किसी बात को सच नहीं मानता. हम सब तर्कवादी निष्ठुर लोग हैं और उस सत्य की गरिमा को खंडित करते हैं, जो तर्कातीत है, जिसकी अभिव्यक्ति बहुत सूक्ष्म है.

ख़ैर. मैंने देखा कि मैम घनघोर बारिश में टैरेस पर खड़ी हैं और टब में पीने का पानी भर रही हैं. बारिश तो ख़ैर थी ही, मांडवी की तूफ़ानी हवा भी सांय-सांय कर रही थी.

ऐसा मैम के सिवाय कौन दूसरी औरत भला कर सकती थी? पांजिम शहर का पानी प्रदूषित हो गया है और उसके इस्तेमाल से गुर्दे की बीमारी लग सकती है. सरकारी ऐलान है कि नल के पानी को बग़ैर गर्म किये न पिया जाये. लेकिन भला इतने भर से मैम कैसे निश्चिंत हो जातीं? उन्होंने टब में वर्षा का शुद्ध जल इकट्ठा किया, उसे उबाल कर ठंडा किया और बोतलों में भर कर 'यूथ हॉस्टल' के एक-एक पर्यटक को इस सख़्त हिदायत के साथ दिया कि कोई भी इस पानी के अलावा कुछ और न पिये!

मां का एक छोटा-सा कष्ट भी दुनिया के तमाम दुखों से कहीं बड़ा होता है, इस बात का यक़ीन मेरे जैसे जड़ बुद्धि लोग भी अब बिना कोई सवाल किये करते हैं. इसके बाद कोई सिर्फ़ यही कहेगा, "तुमने ग़लत कहा है मैम कि यह समूचा यूथ हॉस्टल ही तुम्हारा घर है! तुम्हारा अपार्टमेंट तो सारी दुनिया है."

◘

'क्रिस्टोबल मिरांडा' तीसरी दुनिया के कवि पाब्लो नेरूदा की सृष्टि है. ऐसी अमर सृष्टि नेरूदा के सिवाय कर ही कौन सकता था? 1971 में मैंने पहली बार यह कविता पढ़ी थी और आप शायद यक़ीन नहीं करेंगे, तबसे मैं बहुत बेचैन रहा हूं. क्रिस्टोबल मुझे 'हांट' करती है और मुझे पता है कि वह यहीं कहीं छिपी होगी. मैं जानता हूं, नेरूदा ने क्रिस्टोबल से आकंठ प्रेम किया था. क्रिस्टोबल से प्रेम नेरूदा जैसी शुद्ध आत्मा के अलावा कोई और भला कैसे करेगा? मेरी क्षुद्रताएं मुझे आगे बढ़ने नहीं देतीं लेकिन पिछले सात बरस से पता नहीं कैसे-कैसे मैं क्रिस्टोबल के पीछे भागता रहा हूं.

क्रिस्टोबल मिरांडा लिली भागवत होकर पांजिम शहर में बसी हुई हैं, यह खबर नेरूदा को भी नहीं थी. सात बरस की भटकन के बाद मुझे यह खबर अपने आप ही मिल गयी.

लेखक या कवि रूप में मैं निश्चित ही एक नगण्य व्यक्ति हूं लेकिन कभी-कभी नगण्य व्यक्तियों की भी किस्मत अच्छी होती है, यह मान लेने में अब मुझे कोई कठिनाई नहीं होती. क्रिस्टोबल मिरांडा से मुलाक़ात ही यह बात प्रमाणित करती है.

मेरे खाने-पीने, रहने-सहने का कोई निश्चित तरीक़ा नहीं है. जब जैसी सुविधा मिली, मैं उसी हिसाब से चलता गया. क्रिस्टोबल मिरांडा को इसी बात के लिए बहुत फ़िक्र होती है. मुझे कम से कम पच्चीस बार हिदायतें मिलीं कि खाने-पीने पर कम से कम कुछ ध्यान ज़रूर दूं.

मैं एक सुबोध क़िस्म के बेटे की तरह 'हां' ज़रूर कहता हूं, लेकिन यह 'हां' निभेगी नहीं, मुझे पता है. मैं चाहूं भी तो नहीं निभ सकती.

मेरा झूठ क्रिस्टोबल समझ जाती हैं. समझती हैं और कुछ नहीं कहतीं. फिर मैं देखता हूं कि वह उदास हो रही हैं.

मैं प्रसंग बदलने के लिए हंस देता हूं.

वह नहीं हंसतीं.

जैसे मांडवी का पानी बिल्कुल स्थिर हो गया हो.

◘

मेरे पास गिने हुए दिन हैं. लेकिन लगता है, गिने हुए दिन नहीं, घंटे हैं. पांजिम छोड़ने का वक़्त करीब आता जा रहा है और 'दोना पावला' में सूर्यास्त की तरह मैं विषण्ण हो रहा हूं. 'दोना पावला' की एक अलग ही विषण्ण-कथा है. पुर्तगाली राजघराने की लड़की पावला एक देसी मछुआरे के प्रेम में पागल हो उठी थी. लेकिन राजघराने की चहारदीवारी की तो अपनी अलग मर्यादा होती है! पावला फिर कैसे मिलती अपने मछुआरे प्रेमी से? आख़िर अरब सागर के उस मुहाने पर, जहां 'ज़ूआरी' और 'मांडवी' नदियां शुरू होती हैं, छलांग लगाकर पावला हमेशा के लिए सैकड़ों बरस पहले समंदर की तलहटी में सो गयी थी. तबसे इस जगह का नाम ही 'दोना पावला' हो गया. पुर्तगाली में 'दोना' का अर्थ है कुमारी. लोग यहां सूर्यास्त देखने आते हैं. कहते हैं, ऐसा खूबसूरत सूर्यास्त दुनिया में कहीं और देखने को नहीं मिलता. मैंने भी वहां सूर्यास्त देखा है लेकिन मुझे समूचा दृश्य बहुत विषण्ण ही लगा!

. . . .. सुबह से मैं बहुत उदास हूं.

बाहर मूसलाधार पानी बरस रहा है. इस बीच स्वीट मैम से कई बार मुलाक़ातें हुईं लेकिन मुझसे खास कुछ बोला नहीं गया. वह भी लगभग खामोश ही रहीं. सिर्फ़ पुरानी हिदायतों को दोहरा ज़रूर दिया था.

आख़िर चलने का वक़्त हो ही गया.

कर्नल मेरी बगल में खड़े थे.

स्वीट मैम मेरे नज़दीक आयीं और मुझे पकड़ लिया. कुछ कहा भी था लेकिन वह सब मैं सुन नहीं पाया था. मेरी छाती पर किसने मन भर का पत्थर रख दिया है? मैं चुप.

फिर सफ़र शुरू हुआ और मैं बार-बार मुड़कर क्रिस्टोबल मिरांडा को देख रहा था. वह विदाई में हथेली हिला रही थीं. जब तक मैं वाकई ओझल नहीं हो गया, वह बराबर हथेली हिलाती रहीं. मैं गर्दन मोड़कर उनका चेहरा देखने की कोशिश कर रहा था लेकिन सब कुछ अस्पष्ट हो गया था. आंखें नम हो जायें तो कोई भला कैसे क्रिस्टोबल मिरांडा को देख सकेगा . . . . ! □

डी 240, सर्वोदय एन्क्लेव, नयी दिल्ली-110017.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता अपनी सही भूमिका और लक्ष्य पहचानने की है

◘ विभु कुमार

आज़ादी प्राप्त करते वक़्त जो पीढ़ी युवा थी, (या हो रही थी) चंद साल बीतने पर उसका मोहभंग हुआ, और उस वक्त के साहित्य में इस मोहभंग की स्थिति को लेकर खासी रचनाएं आयीं. मालूम नहीं यह मोहभंग अचानक कैसे समाप्त हुआ, जो उसका स्वर और तेवर साहित्य से एकदम गायब हो गया. मोहभंग की इस स्थिति से किस प्रकार के साहित्य को जन्मना चाहिए था, यह तो इतिहास के विश्लेषण का विषय है. पर मुझे लगता है कि जैसे साहित्य की ज़रूरत इस देश को थी, वैसा साहित्य नहीं आया और कालांतर में कुंठा, संत्रास आदि की इस क़दर बाढ़ आयी, कि उस साहित्य को पढ़कर लोग और संत्रस्त, और कुंठित होने लगे. इस अभागे देश के लिए यह एक अजीब स्थिति थी. साहित्य की सही और रचनात्मक भूमिका की बात केवल गोष्ठी और क़ाफी हाउस की बहसों का विषय हो कर रह गयी थी. आश्चर्य होता है कि ऐसे वक़्त भी साहित्य के अलमबरदार अपनी-अपनी गद्दी संभालने के चक्कर में, विभिन्न वादों और आंदोलनों के कुचक्र में रत थे. और कुछ जो बचे थे यानी बातें करते थे तो उनका विद्रोह ले-देकर मां-बाप, पत्नी और ऐसे अन्य रिश्तों तक सीमित था. वे यह भूल गये थे कि इन तमाम रिश्तों वाले लोग भी तो आखिर उसी व्यवस्था के मारे हुए हैं, जिनमें युवा पीढ़ी पिस रही है. आक्रोश और विद्रोह का इतना नपुंसक और बनावटी रूप शायद इस देश में ही संभव था. आश्चर्य की बात थी कि हमारा साहित्यकार (जो समाज का जागरूक और बुद्धिजीवी व्यक्ति कहलाता है) भी, व्यवस्था के उस घिनौने षड़यंत्र को (अपने सही दुश्मन को) पहचान पाने में असमर्थ था. और अगर मैं यह कहूं कि असमर्थ नहीं था वरन् जानबूझकर आंखें चुरा रहा था, तो बहुतों को कष्ट होने लगेगा, और इसका परिणाम यह हुआ कि आने वाले समय की सारी पीढ़ी भी उसी तरह के ग़लत रास्तों

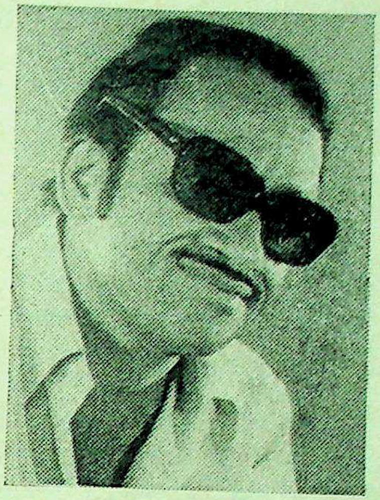

पर चलती रही और खोज सही रास्ते की करती रही. और हमने बेश-कीमती तीस वर्ष यूंही गुजार दिये, नंगी-अधनंगी, भूखी-अधभूखी पीढ़ी के नाम पर.

◘

कहावत है—इतिहास अपने को दुहराता है. तीस वर्ष के बाद बिल्कुल यही स्थिति फिर हमारे सामने है. हमने अगर आपत-काल के उन्नीस महीने देखे, तो इस दूसरी (तथाकथित) आज़ादी के भी साल-डेढ़ साल देख चुके हैं. क्या यह स्थिति पिछले साल-डेढ़ साल के जनतापार्टी के कारनामों को देखते हुए मोहभंग की स्थिति के लिए काफ़ी नहीं है. प्रजातंत्र का जितना मज़ाक इस देश की राजनीतिक शक्तियां उड़ा रही हैं, वह संसार में अपने आप में मिसाल है. इस देश में प्रजातंत्र राजनीतिज्ञों की 'रखैल' हो गया है. लेकिन जहां मसाला पीसने के सिल को सिंदूर लगा कर पूजा की जा सकती है, वहां सब संभव है.

तो स्थिति यह है कि सब कुछ गड़मड़ है. जिसके जो मन में आ रहा है, कर रहा है, यह देश और इस देश की जनता राजनीति और राजनीतिज्ञों की प्रयोग-शाला हो गयी है. सभी प्रयोग कर रहे हैं और सामान्य जन पिस रहा है—दिनों-दिन टूट रहा है. चारों ओर अराजकता, असंतोष, भाई-भतीजावाद, बटकवाद और न जाने क्या-क्या चल रहा है, फिर भी नेता चिल्ला रहे हैं-सब ठीक है, कहीं कोई गड़बड़ नहीं.

◘

तो यह है आज की स्थिति और लेखन, (मुझे दुख है) कि वैसा नहीं हो रहा है जैसा होना चाहिए. अभी भी 'अनारो' 'तुम्हारे लिए', 'मेरे संधिपत्र', 'बंगज' जैसी ही रचनाएं लिखी जा रही हैं, शायद इनका लिखना भी ज़रूरी होगा, पर ऐसा ही केवल लिखा जा रहा है?

इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि हम अपनी सही भूमिका और लक्ष्य को पहचानें और तदनुरूप लिखें. आज ज़रूरत ऐसी रचनाओं की है जो उस आग को पैदा करें जो इस देश से 'प्रजातंत्र की रखैल' स्थिति को समाप्त करें. ऊपर लिखित रचनाएं साहित्य की धरोहर हो सकती हैं पर अगर वे दस साल बाद भी लिखी जायेंगी तो कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा, पर आज तो निश्चित ही पड़ता है.

इसलिए आज की संपूर्ण स्थिति को देखते हुए हमें अपने लेखन के तेवर को बदलना होगा. वरना आज तो लेखन, पत्रिका और उसके संपादकों को ध्यान में रखकर किया जा रहा है और मेरी नज़र में यह लेखन के साथ बलात्कार है. इससे अच्छा है कि हम लिखना ही बंद कर दें, शायद ऐसा करके हम इस देश का ज्यादा भला करेंगे-इति. ☐

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहयोग

● जीवनसिंह ठाकुर

दूर तक धूल के गुबार, उड़ते पत्तों, चारों के तिनकों के बीच झांकते कुछ टापरों के इस छोटे से गांव की गरवट से खट-खटाक-खट करता मगन बैलगाड़ी दौड़ाये लिये जा रहा था. पटेल की इस बैलगाड़ी में बैठते उसे हमेशा बड़ा अच्छा लगता है. अपने इस छोटे से गांव में इस बैलगाड़ी से उतरते हुए मगन बड़ा गर्व अनुभव करता––टापरों से निकल कर लोग उसे घूरते— उसे और भी घमंड हो जाता. छगन दादा पूछते भी कि बड़े गांव कब जाओगे तो वह घमंड और बड़प्पन की मिली-जुली पटेली शोख़ी में कहता, "चले-चलना-चले चलना––भई छगना, बस रोटी खा के चलते हैं, अच्छा ऐसा कर, जब तक बैलों को निराव-पानी दे दे." छगना दौड़कर बैलों को खोल कर नाले की तरफ़ लिये जाता. यह क्रम इतनी बार दोहराया गया था कि लगता मगन खुद पांच गांव का पटेल और छगना उसका हाली हो. लेकिन जब बड़े गांव लौटते और जैसे-जैसे बड़ा गांव पास आता जाता, वैसे-वैसे मगन का गर्व-घमंड, पटेली शोख़ी, जैसे खेत के होरियों-पक्षियों की तरह निस्सीम आकाश में उड़ जाती और नगण्य-सी हो उठती. और यह एहसास छगन के साथ और भी गहरा हो जाया करता. लेकिन शाम को जब अपने टापरे की चौखट पर लौटता तो रास्ता देखती मानू को देखकर यह छोटापन घटकर थोड़ा लंबा हो जाता. कागज़ की कोई पुड़ी में छटांक भर भजिये या कभी-कभार बेसन की सेंव जब मानू के हाथ में रख देता तो उसका मन पुनः बैलगाड़ी के टिपकोलों की गति पर महसूस होता. चिमनी के मद्धम उजास में मानू को रोटी सेंकती हुई वह देखता, मगन को लगता खेत में काम करते दोपहर की कठिन ढलान की तरह रोटियां भी देर से सिंकती. मानू की कोई लट उसके होंठों तक लटक जाती, सिर से घूंघट खिसककर कान तक आ जाता, लेकिन वह रोटी बनाने में व्यस्त रहती. मगन को इस घड़ी को सदा प्रतीक्षा रहती. मानू की लंबी नाक, झुका-झुका चेहरा, धीरे-धीरे उठती पलकें उसे अव्यक्त आकर्षण देतीं और उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगता, वह तेज़ी से पटेल की बैलगाड़ी में चारों पर पाल बिछा मानू को लिए मेले में चला जा रहा है. धीरे-धीरे रात खिसकती .... झींगुरों की झन-झन-झन ... बाहर ढोरों के बागोलने की आवाज़ .... चिमनी का मद्धम उजाला, मगन—तेज़ी से मानू को अपने पास खींच लेता, फिर वह बाजार की बातें पूछती रहती.

▣

इतनी तेज़ गाड़ी कभी नहीं चलायी थी, सिर पर बंधा कपड़ा भी खिसककर गाड़ी में गिर गया था. गाड़ी के हिचकोलों में वह भी इधर-उधर कांप रहा था. ऐसा लगता था जैसे खुशियों के कुछ टुकड़े उसमें भी चिपक कर रह गये हों. खले की मेढ़ से देखते हुए मगन निकला, लेकिन मानू उसे नहीं दिखी. दोपहर हो रही थी. बैल फिर दौड़ने लगे थे. मगन के टापरे के सामने भी बैल नहीं थमे, रास खोंचते-खोंचते भी गाड़ी टापरे के आगे तक घिसटती चली गयी. गाड़ी रोक कर मगन धड़धड़ाता टापरे में घुस गया था. "मानू—ए मानू, कां है री—मानी ...." चूल्हे के पास बैठी मेथी काटते हुए मानू ने आश्चर्य से भरकर देखा, मगन हांफ रहा था और धम से चारपाई पर बैठ गया था.

घबरायी हुई-सी मानू उसके पास आ खड़ी हुई. उसने खींचकर पास बैठा लिया था, "क्यों कई हुयो, म्हारे बतावोगा बी की नी बतावोगा. महारो तो जीव सांसत में उलझी रियो है ..."

"अरे भागवान वा बात नी है. तू ठैरी छोटा गांव की नी अखीर. सरकार ने ऐसो कियो है कि जिना जमीन के जो जोते-बोवे वो हिस्सो ऊके ही मिलेगा और जिना पास जमीन नी है उणके मिलेगा." मगन एक सांस में ही यह कह गया. मानू की आंखों में चमक उभरी—नाक के किनारे लाल-लाल हो गये. मगन कह रहा था, "देखना मानू, अब यह पटेल जैसी बैलगाड़ी अपनी भी होगी और ये टापरे की जगह अपना टापरा बनेगा. अवजा रखने को ओखरी बड़ी-बड़ी बनानी पड़ेगी." ऐसा कहकर मानू और मगन ने टापरी के चारों ओर निहारा, जैसे मकान बन गया हो और अब कोठियां रखने की समस्या खड़ी हो रही है. "तेरे पांव पड़े और यह सब हो रहा है." मानू मगन के इस जुमले से रीझ-रीझ गयी और अलसायी-सी वह मगन के कंधे से टिक गयी. मगन को लगा, जैसे नये मकान की दीवार के पास लगी मसनद पर टिका पटेल रिजकराम की तरह बैठा है. लेकिन बाहर खड़े बैलों की घंटियों की टन-टन से उसकी तंद्रा टूटी और वह उठ खड़ा हुआ. तेजी से आंगन में निकल गया. मानू जैसे सोते से जागी हो "अरे सुनो, रोटी तो खा जाओ ... सुनो म..." तब तक मगन बैलगाड़ी पर बैठ चुका था और घुंघरुओं की आवाज़ दूर होती जा रही थी.

▣

मानू चूल्हे के पास लौट आयी थी. मेथी काटकर उसने हांडी में छौंक दी और आटा परात में डाल दिया. चूल्हे की आंच में उसका चेहरा सिंदूरी दिख रहा था, लंबी नाक, लंबी-लंबी पलकें, कांपते होंठ .... जैसे मानू लाल चुनरी में धूप में खड़ी हो. वह आटा उसनने लगी थी. धीरे-धीरे एक राजस्थानी गीत वह गुनगुनाने लगी थी:

मैं जाणु रे मीरां ... थांका हिवड़ा में आज.
मैं जाणु रे मीरां ... थांका हिवड़ा में आज.

और रोटियां फूलने लगी थीं.

सांझ उतर आयी थी. काम-धंधे से निपट मगन पटेल से कहने गया था, "भाई जी, मैं जा रहा हूं. सुबह चार बजे हाजिर हो जाऊंगा."

"हां हो ... ठीक है." ... पटेल ने अंदर से कहा था. आज मगन के पांव जाने-अनजाने मास्टर अमित के घर की तरफ़ मुड़ गये थे. घर क्या, एक कोठरी भर थी. खूंटी पर लटका एक झोला, किताबों-अखबारों का अंबार. "राम-राम माट् साब."

"क्यों भई मगन, आओ-आओ कैसे आना हुआ, घर नहीं गये?"

"सोचा कि पहले मिलता चलूं."

"हां-हां, कहो"—अमित ने पुचकार भरे शब्दों में कहा था.

मगन हाथ जोड़ते हुए बोला था, "मैंने सुना है जमीनें मिलने वाली हैं .."

"हां सुना तो है—देखें क्या होता है, हां, यदि मिली तो तुम्हारे लिए कोशिश करूंगा." अमित ने कहा.

"हां—माट् साहब, ऐसा करो तो मैं ज़िंदगी भर एहसान नहीं भूलूंगा."

"अरे-अरे—मगन भाई ऐसा क्यों कहते हो, इसमें एहसान की क्या बात है?"

"नी माट् साब. गरीब आदमी कहीं एहसान भूलता है!"

अमित ने गहरी 'हूं' भरी. सामने टंगे झोले पर उसकी निगाह टिक गयी थी. अमित को यह झोला उमा ने दिया था और उसमें कुछ किताबें भी थीं. जब पहली बार शहर की नौकरी छोड़ गांव में मास्टरी और जन-जागृति के लिए आया था तब मोटर स्टैंड पर अपनी इसी एकमात्र मित्र ने पीपल के नीचे मोटर के पास कहा था, "अमित जी, उदास हो?"

"नहीं तो उमा, ऐसी बात नहीं."

"आज घर के लोग यहां नहीं आये, दोस्त नहीं आये, तुम्हारे नौकरी छोड़ने से सब नाखुश हैं. लेकिन उमा नहीं, मैं तुम्हारा सदा साथ दूंगी अमि ..." उमा ने पहली बार उसका नाम इतना छोटा करके बोला था और आंखें नीची कर ली थीं. अमित ने लक्ष्य किया था कि उमा आंसू पोंछ रही थी. गाड़ी ने हार्न दे दिया था. "अच्छा ..." उमा ने कहा था और प्रणाम करने की मुद्रा तक झुक गयी थी.

"अच्छा उमी, चलूं, पत्र ..."

"हां हां, जरूर दूंगी." उमा की आंखें लाल हो गयी थीं ... और धीरे-धीरे मोटर स्टैंड ... पीपल का पेड़ ... उसके नीचे खड़ी उमा .... सब ओझल हो गये थे.

"अर्जी दे देंगे तो जरूर मिल जायेगी" ...

"नहीं मिली और न ही कहीं दिखी." हां, एक पत्र आया था. निमंत्रण पत्र, कि उमा का शुभ विवाह ... निवासी .... अधिकारी के साथ दिनांक .. को है. ... मगन ने डरते हुए पूछा, "क्या नी मिली माट् साब?"

अमित जैसे चौंका ... सहज होते हुए कहा, "अरे वो बात नहीं, ज़मीन तुम्हें मिलेगी जरूर, मैं प्रयास करूंगा ही .."

"हो ..." मगन हाथ जोड़ विदा हो गया था.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे दिन पटेल के घर पर एक लंबे बांस में कांग्रेस का झंडा लहरा रहा था. मगन ने दूर से उसे देखा था, लेकिन उसकी समझ में कुछ नहीं आया. हां, उसे मालूम था कि इससे पहले दीपक छाप पीला झंडा लगा करता था. वह भी कभी-कभार ही. मगन को लगा कि अब ज़रूर कुछ होगा. उसने अंदाज़ लगाया, लड़की की शादी तो नहीं . . . लड़के की भी शादी नहीं . . . फिर क्या हो सकता है? उसने खूब सोचा लेकिन उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ा.

तीन-चार दिन बाद पटेल के घर एक औरत के छापे वाले बड़े-बड़े कागज़ आ गये थे. मगन देख रहा था, इसका चेहरा किस देवी-देवता से मिलता है? मगन ने अपनी याददाश्त पर खूब जोर लगा लिया, लेकिन मीजान नहीं मिला. उसने डरते-डरते पूछा था, तो उन्होंने कहा था, इंदिराजी हैं. पटेल ने कुछ इस प्रकार कहा था कि उसे फिर से पूछने की हिम्मत नहीं हुई. मगन जब बाहर आने लगा तो बड़े दरवाज़े से सेठ साहब घुसते हुए दिखे. मगन ने देखा था, पटेल और सेठ दोनों अलग-अलग झंडे वाले हैं. दोनों कभी घर नहीं मिलते—लेकिन आज . . .

▣

मगन बाहर आकर सोच रहा था. पटेल कभी पूरी मज़दूरी नहीं देता और सेठ कभी शक्कर नहीं देता. दोनों आज यहां! मगन ने पटेल के मकान पर कांग्रेस का झंडा और गैलरी में इंदिराजी का पोस्टर देखा . . . बैलों को छोड़कर गाड़ी तैयार करने लगा था.

अमित ने बताया था कि समिति आ रही है—मगन अपनी अर्जी उसके सामने रखे क्योंकि समितियों को अधिकार है कि वह ज़मीन के पट्टे दे सकते हैं. मगन ने कहा था, "आप ही अर्जी लिख दो." अमित ने कहा था, "हां-हां, मैं लिख दूंगा." मगन ने कहा, "पटेल साहब कह रहे थे कि कुछ लोग जिल्ले से आ रहे हैं—उनके भोजन का 'परबंध' करना है. आज सेठ ने 20 किलो शक्कर पहुंचायी है." "हां, वो ही समिति है." एक कागज़ निकालकर अमित ने अर्जी लिख दी. फिर अविश्वास भरे स्वर में मगन ने पूछा था, "ज़मीन मिल तो जायेगी न!"

"समिति चाहेगी तो मिल जायेगी" मगन ने कहा.

"वो चाहेगी!"

"हां लगता तो ऐसा ही है." मगन अर्जी लेकर चला गया. उसके जाने के बाद अमित से कुछ और लोग अर्जी लिखाने आ गये थे.

▣

सेठ के मकान पर समिति जुड़ी थी. कुल मिलाकर तीन अर्जी आयी थीं. अध्यक्ष ने चारों तरफ़ देखकर पूछा था, "क्या कोई और नहीं —आप लोग बताइये, आपको कोई तकलीफ़ तो नहीं? कोई भूमिहीन तो नहीं?" सारी सभा, कुर्सियों पर पटेल और सेठ को देखती और चुप रह जाती. बाहर एक कोने पर खड़े अमित मास्टर भी आश्चर्य से भरे देख रहे थे. उन्होंने कुल जमा ढाई-तीन सौ अर्जियां लिखी थीं, लेकिन यहां तो तीन व्यक्तियों ने ही अर्जी दी थी. अमित ने सरसरी तौर पर मगन को देखा. बीचों-बीच भीड़ में सिर झुकाये बैठा था, बीच-बीच में वह सिर उठाकर अध्यक्ष को देख लेता और सिर और चेहरे को पोंछ लेता. "अच्छा तो अब कोई नहीं है," अध्यक्ष ने कहा . . . और अचानक मगन खड़ा हो गया.

"अनदाता, हुजूर, मेरी अरज है कि मेरे पास कोई जमीन नहीं है."

"तुम इन दिनों कहां काम करते हो?" मगन ने कांपते हाथ की धूजती उंगली से स्थिरचित्त बैठे पटेल की तरफ़ इशारा किया. पटेल एकदम चौंके—अध्यक्ष ने मगन को आग्नेय नेत्रों से देखा. मगन का चेहरा पसीने की बूंदों से भर गया था. उसकी टांगें कांप रही थीं और वह भर-भराकर भीड़ में बैठ गया. अध्यक्ष ने निर्णय दिया, "अगली बैठक में आपकी अर्जी का फैसला कर दिया जायेगा." समिति उठकर अंदर चली गयी.

सभी लोग बाहर आ गये थे. दूर कोने पर खड़े अमित ऐसे लग रहे थे जैसे उन्होंने ढाई सौ अर्जियां नहीं, ढाई सौ जूते सरे-आम खाये हों. सभी सिर झुकाए अमित के सामने से निकल गये. मगन थोड़ी देर के लिए रुका था, लेकिन बिना बोले वह भी आगे बढ़ गया था. अचानक जगराम, सेठ के दरवाज़े से गर्दन निकालकर आवाज़ दे रहा था, "माट् साब, ओ माट् साब, सेठ साब हैला पाड़िरिया है तमारे."

अमित ने कहा था, "आया-आया." अमित अंदर पहुंचा, —गादी पर बिछी सफ़ेद-चक चादर पर सेठ-पटेल सहित समिति के चार-पांच सदस्य बैठे थे. अध्यक्ष ने कहा था, "आइये—आइये गुरुजी, बैठिये, कहिये कैसा चल रहा है?" अमित ने विनीत मुद्रा में कहा, "जी सब ठीक-ठाक है." समिति के एक दूसरे सदस्य ने कहा था, "माट् साहब, देखिये—फालतू राजनीतिक चक्कर में मत पड़िये. हरिजन-आदिवासी, हाली-मवाली की समस्याएं देखना हमारा काम है. आपको सेठ और पटेल साहब के खिलाफ़ कुछ नहीं करना चाहिए." अमित ने प्रतिवाद करते हुए कहा था, "माफ़ कीजियेगा, उनकी अर्जी लिख देना, प्रौढ़ शिक्षा चलाना और देश की जानकारी देना, यदि सेठजी के खिलाफ़ है तो फिर मेरा अध्यापक रहना ही निरर्थक है."

अध्यक्ष ने कुछ गौर से कहा, "देखिए, आप ज़रा निम्नवर्ग से, जिसे कि आपने यह नाम दिया है, दूर रहें तो ठीक रहेगा, अन्यथा मुझे कुछ दूसरा ही सोचना पड़ेगा."

पटेल बोले थे, "मगन की इतनी हिम्मत कभी नहीं हो सकती थी. मान गये सर! आपने उसे खड़ा कर ही दिया."

आखिर, अमित समझ गया. अब एक साल में यह पांचवां गांव भी छोड़ना पड़ेगा. अध्यक्ष ने कंधे पर हाथ रखकर कहा था, "वैसे आप समझदार हैं . . ."

▣

मगन सीधा पड़ोस के गांव, अपने घर पहुंचा. मानू ने पूछा, "ताप तो नी है, तबियत खराब थी तो गोली लेते आते." मगन ने कोई जवाब नहीं दिया. धम्म से खाट पर जा पड़ा. मानू ने अपना हाथ जब उसके कपाल पर रखा तो लगभग चीख पड़ी, "ताप है और तम कईरियाओ के कोई कई नीं!" मगन धीरे से बोला था, "मानी, ऐ मानी," वह उसके पास सट आयी थी, "तुलसी की चाय बना ला." मानू बाहर चारा-सांरी बीनने चली गयी थी. मगन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंखें फाड़े-फाड़े खिसके हुए कवेलू के उजास में नीला आसमान देख रहा था.

▣

अध्यक्ष कह रहे थे, "पटेल साहब, जब अर्जी आ ही गयी है तो कुछ तो व्यवस्था करनी ही पड़ेगी. वैसे भी आपके यहां अट्ठारह साल से काम कर रहा है." पटेल मुस्कराये, "इसकी चिंता आप मत करिए, अगली बैठक में मैं देख लूंगा. आपको इस समस्या का अंत ही मिलेगा. हां, आप अब जैसा करो, अगली मीटिंग में हमें तो फैसला करके पट्टे देने ही पड़ेंगे." अध्यक्ष बोले, "जी हां—ज़रूर हो जायेगा."

▣

खेत की मेढ़ों से वृक्षों के पीछे सूरज का पीलापन फैल गया था. लौटते हुए ढोरों के खुरों से उड़ती हुई धूल पीलेपन में मटमैला रंग घोल रही थी. चारे के भारे लादे औरतें पगडंडी पर कतारबद्ध चल रही थीं. गाड़ी गरवट पर सपाटे से बैलगाड़ी दौड़ाते किसना ने हांक लगायी थी, "बगल हुई जाओ—बगल हुई जाओ रे, बैरां होण, बयांडी हटी जा रे घीसा भई." घीसा बोला था, "वा रे किसनिया, उद्दर ही चडरियो है, अमे आज तो झामाझम गाड़ी पै मूंछ मरोड़ी के पटेल वणियों फिरी रियो है."

"अरे नी हो दा, उना मगना के बुलाने आयो हूं."

आंगन के उस पार मानू ने चिर-परिचित घंटियों की रुन-झुन सुनी तो वह तत्काल बाहर आ गयी, किसना को देखकर वह टापरे के दरवाजे की ओट में आ गयी. मगन को झकझोरते हुए कहा, "सुणो नि, बाहर पटेल की गाड़ी में किसन भैया आया है."

मगन ने वहीं से आवाज़ दनदना दी, "अरे किसना यहीं आ जा." मानू भागकर खंबे की आड़ में चली गयी थी.

"मगन, पटेल साहब ने अभी बुलाया है."

"क्यों कोई खास काम?"

"दिन भर से तुझे याद कर रहे थे, वैसे भी तेरी ये बैलगाड़ी किसी से संभलती नहीं." मगन ने मानू की तरफ देखा, गुदड़ी ओढ़े-आढ़े ही वह किसना के साथ बाहर आ गया. दरवाज़े की ओट से मानू ने धीमी आवाज़ में कहा, "बेगा, आओ जो."

"हो . . ." में मगन ने जवाब दिया था और धीरे-धीरे बैलों की घुंघरुओं की आवाज़ दूर होती चली गयी थी. तारे छिटक आये थे.

मानू सोच रही थी. जमीन के लिए बुलाया, न जाने क्या बात है—दीवार में टंगे भगवान के चित्र के आगे हाथ जोड़े न जाने क्या-क्या कह रही थी. बाहर कुत्ते भौंक रहे थे. रात का सन्नाटा तोड़ रहे थे. कभी-कभार किसी ढोर की घंटियां टन-टना जातीं.

▣

पटेल और सेठ बाहर ही फाटक पर मिल गये. "क्यों रे मगना बीमार है क्या, ये गोदड़ी क्यों ओढ़ रखी है?"

"नी भाई जी साब, यूं ही."

"किसना, अंदर चाय बनाने को बोल मगन आया है."

"नी भाई जी—बस म्हारे हुकुम करो, कई बात है?"

"कुछ नी यूं ही थारे बुलइलियो—तू तो सीधो घर चलियो गियो थो?" मगना कुछ बोला नहीं था. पटेल और सेठ दोनों बैठक में जाकर बैठ गये थे. उन्होंने मगन को भी वहीं बुला लिया था. मगन पसीना पोंछता बैठक में पहुंचा था.

"बैठ मगना, बैठ बेटा." मगन कुछ आश्वस्त-सा हुआ था. चाय लेकर किसना आ गया था. चाय का प्याला हाथ में लेते हुए मगन का हाथ कांपा था. अंदर एक दिल नाम की चीज उछल रही थी.

"मगन आज तू कुछ परेशान-सा दीख रहा है, क्या बात है? कुछ ज़रूरत है क्या? पैसे-वैसे चाहिए तो ले जा . . . ."

"नहीं नहीं भाईजी साहब, ऐसी बात नहीं." मगन सिर से पांव तक कांप गया था. बाहर रात गहराती जा रही थी. कुत्ते भौंक रहे थे. यदा-कदा कोई टेटेहरी, टीं-टीं-टीं करती निकल जाती. पीछे औसारे में बंधे ढोरों की घसर-घसर आ जाती.

पटेल बोले, "मगन तू मेरे बेटे जैसा है, लेकिन बात कहूं या न कहूं, थोड़ा पशोपेश में हूं."

मगन हाथ बांधे बोला, "भाई जी, कहो न, आप तमारे सगलो अधिकार हासिल हेगो."

"बेटा—मगना तू तो छोटे से बड़ा मेरे यहां हुआ, बेटा यह मुझे अच्छा नहीं लगता कि मानू वहां गांव में लाज-शरम भी न रखे. जब शादी हो गयी तो अब तो मान-मर्यादा से रहना चाहिए." मगन को लगा जैसे हवा का कोई तेज़ झोंका आया हो और टापरे के पत्ते उड़ गये हों और दिया बुझ गया हो.

"आप कई कईरिया हो भाई जी साब."

अब सेठ प्रमाणित करता हुए बोला, "उस दिन मैं गांव में मजूरों को लेने गया था, तब भी न जाने कौन था सफेद पगड़ी वाले को तेरे टापरे से निकलते हुए देखा था. देख मगना, आखिर है तो वो हमारी बहू, हमें यह सब ठीक नहीं लगता." मगना के कांपते पांवों में स्थिरता आ गयी थी. और तमाम झुरझुरी उसकी आंखों और होंठों में सिमट आयी थी. वह उठा और बाहर निकल आया. सेठ ने पटेल का घुटना दबाया.

▣

बाहर किसना चिलम फूंक रहा था.

"मगना, गाड़ी तैयार है, चल जल्दी बैठ, मेरे कू फिर वापस आना है."

"रहने दे, मैं पांव-पांव चला जाऊंगा."

"चल हट, तबीयत खराब है और पांव-पांव जायेगा! चल बैठ." किसना ने प्यार से झिड़का. और कोई दिन होता तो मगन खुश हो जाता लेकिन आज यह भी अच्छा नहीं लग रहा था. किसना ने बैल जोत दिये थे और गाड़ी में बैठ गया था. मगन अधलेटा-सा बैठ गया. धच्च-धच्चाक, धच्च, गाड़ी चल दी.

मानू ऐसी कैसे हो सकती है? कितनी चुप-शांत औरत है. ऐसा नहीं कर सकती. मुझे देखकर कितनी खुश हो जाती है. रोज काम पर जाते वक्त भी लुगड़े की ओट से झांकती उसकी स्नेहिल आंखें, ममताभरा चेहरा, मेरी सेवा-टहल में जी-जान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक करती मानू--नहीं--नहीं ऐसा नहीं हो सकता. मेरे अलावा मानू . . . . "नहीं . . नहीं, ऐसो नी हुई सकें—नी नी . . . "

किसना ने बैलों की रास खींची और मगन की तरफ अचरज से देखा,"नी–नी, कई बकी रियो है रे मगना. .. ?" मगन खिसिया गया. गांव का कांकड़ भी आ गया था. मगन उतर पड़ा, "किसना ले जा गाड़ी," और बिना कुछ कहे वह गरवट के रास्ते अपने टापरे की तरफ़ बढ़ गया था. कुत्ते भौंकने लगे थे. तारों में घिरी हिरनी खिसककर पश्चिम की तरफ आ गयी थी. आंगन में पदचाप सुनी तो मानू झपट कर बाहर आ गयी और लगभग सट कर बोली, "कित्ती देर करीदी. म्हारो तो जीव सांसत में थो."

मगन ने इस गरमाई और सच्ची बात की गहराई महसूसी और सोचा सेठ और पटेल की बात यहीं झटक कर टापरे में जाये, लेकिन . . . अलाव तापते—सत्तू, मीठालाल के शास्त्रार्थ की बातें चोट करने लगीं . . . त्रियाचरित कोई नी समझी सके . . . . मानू चरित कोई नी समझी सके . . . मगन ने कोई जवाब नहीं दिया. धीरे-धीरे टापरे में धंसता चला गया. मानू उसके निकट ही बैठ गयी थी. सहज-स्वाभाविक उसने झुककर मगन के कपाल को छुआ. एक कुनकुनी आंच और खामक मगन ने महसूस की थी. दिमाग़ में जमी बर्फ़ पिघलकर बहने लगी थी, लेकिन मगन ने मानू को छोड़ दिया. धीरे-धीरे मानू उसका सिर दबाने लगी थी. रात—टिटहरी की तरह—गुज़र रही थी. मगन को लगता जैसे वह पटेल की बैठक में बैठा है—फड़फड़ाकर वह आंखें खोलता—और पाता कि मानू उसका सिर दबा रही है.

▣

मास्टर अमित के घर भीड़ लगने लगी थी. लोग अर्जियां लिखा रहे थे. कर्जे-माफ़ी की अर्जियां लिखवायी जा रही थीं. दीना कह रहा था, "मास्टर बाबू, सेठ के रियो थो के इना दो रुपल्ली के मास्टर को गलती की, कि यहीं रहणे दिया, जिना दिन से बस्ती मां लोगों को पढ़ाना शुरू कियो थो, तबी से यो गांव बिगाड़ी रियो है. अरे किसना, मगन की मजाल थी कि समिति के सामने खड़े होते—और इत्ती ढेर सारी अर्जियां लिखता." दीना ने आगे बताया था, "और हां, मास्टर बाबू, वो के रिया था कि मास्टर पीले झंडे वाला है. साले को भगा देंगे."

अमित ने एक लंबी सांस लेकर कहा था, "दीना भाई—ये तो होता रहेगा. चलो आओ, तुम्हारी अर्जी लिख दें." दीना घबराहट भरे शब्दों में कह रहा था, "मास्टर बाबू, कहीं आपकी नौकरी तो नहीं छूट जायेगी?" अमित ने कहा था, "जो होगा देखा जायेगा. दीना ने कागज़ अमित को थमा दिया.

दूसरे दिन पूरे गांव में मानू के चर्चे फैले हुए थे. 'किसी दूसरे से वह लगी हुई है'. ये शब्द गांव के गुब्बार की तरह उठ-गिर रहे थे. गांव की सड़क से गुज़रते हुए मगन ने महसूसा था कि सबकी निगाहों में एक हिकारत का भाव है.

एक मितली-सी मगन ने महसूसी थी और वहां से भाग जाना चाहता था, लेकिन जाता कहां? इस गांव से उस गांव तक ...लेकिन मानू? वह ज़्यादा सोच नहीं सका. किसना ने मुंह बिचका कर कहा था, "क्या यार मगना? भाभी ऐसी है . . . "

"बस-बस कर किसना, बस कर भाई, हूं इना गांव के छोड़ी ने ही चलियो जाऊंगा." जाऊंगा शब्द कहने के साथ किसना से उसने कहा था, "इस बदनामी की पोटली को लेके कहां-कहां फिरूंगा?" कभी-कभी इंसान अपने पक्ष में कितना स्वार्थी हो जाता है कि सारे गांव को अपने पास रखना चाहता है और इसके लिए सब कुछ ख़त्म कर देना चाहता है. अपना सारा कुछ निजी तक नहीं रहने देना चाहता. पान की गुमटी पर बीड़ी खरीद के लेने की भी उसकी हिम्मत नहीं पड़ी. नीम के पास से पटेल के घर लौट आया था. लेकिन सभी चेहरों पर एक उपेक्षा ने मगन को आहत कर डाला.

▣

आज अमित को जिला मुख्यालय से काम के प्रति चेतावनी मिली थी. घोर अनियमितता और कांग्रेस के ख़िलाफ़ कुप्रचार करने के आरोप लगाये गये थे. तथा आठ दिनों में अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने को कहा गया था. एक अजीब हालत थी. जनसंघ छोड़कर आया हुआ पटेल, अमित को जनसंघी कहता था और कांग्रेसी सेठ जनसंघी कहता था, और कस्बे के जनसंघी अमित को कांग्रेसी समझते थे. जिले के कांग्रेसी अध्यक्ष कहते थे, "साला कम्युनिस्ट है". अजीब खिन्नता व्याप गयी थी. लगता था एक अजीब सजा भोग रहा है. इससे तो अच्छा था कि मीसा में ही बंद हो जाता. और किसी एकांत कोठरी में एक-आध किताब लिख मारता. किसना कुछ और लोगों को लेकर अर्जी लिखाने आ गया था. साथ ही गेंती, बेलचे, तगारियां भी थीं. अमित, हरिजन बस्ती की सड़क ठीक कराने का भी काम कर रहे थे. अमित ने पुनः खूंटी पर टंगे अपने झोले को निहारा . . . . दोस्तों ने कहा था, "गांव!" और हिकारत से मुस्करा दिये थे. उमा उत्साहित हुई थी फिल्मों की नायिकाओं की तरह. उसकी आंखों में खिंच आये लाल-लाल डोरों में अमित ने कुनकुने प्यार की गमक देखी थी, मुस्कराहट में अपने ध्येय की निष्ठा देखी थी—तथा सांसों और सान्निध्य में जीवन का साफल्य...और बस धुआं छोड़—भर्र-भर्र-भर्र—पीपल का पेड़ और आंसू पोंछती उमा....

▣

मगन की आंखों में लाली उतर आयी थी. टापरे की हर चीज़ उलट-पलट गयी थी. दरवाज़ा टूटकर बाहर फिंका पड़ा था. ओटले पर भीड़ लगी थी. मानू अपने पल्ले से नाक से बहता हुआ खून रोकने की कोशिश कर रही थी. मगन की बाहों पर खून था, उंगलियों में खून चिपक गया था. तेज हंसिया डैली के पास पड़ा था. मानू चीख रही थी. भीड़ निस्तब्ध थी. रात की तरह बीच-बीच में मानू गीत के स्थायी भाव की तरह चीखती थी.

▣

"वाह मगना वाह, मेरे बेटा, मरद का बच्चा ऐसा ही करता. अच्छा किया इस बदज्जात लुगाई को सबक दिया, साली की नाक काट कर—उसने यारों का भी पत्ता काट दिया मगना, जहां जायेगी वहां उसकी नाक ही कह देगी कि उसने मगना के साथ कैसा विश्वासघात किया था."

सेठ दौड़े आये थे और मगना को तसल्ली देने लगे थे. किसना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्याह हाशिये

एक

कत्ल गला घोंट कर किया गया था. जांच में कातिल के बारे में एक ही बात मालूम हुई थी कि मुजरिम टक्कर मारने में माहिर है. उसके बाद पुलिस एक ऐसे आदमी की तलाश में जुट गयी जिसके माथे पर टक्कर का निशान हो.

पुलिस के आदमियों ने सारा शहर छान मारा. आखिर एक दिन एक आदमी को पकड़ लिया जो मस्जिद से सजदा करके आ रहा था. दरअसल मस्जिद में बरसों माथा रगड़-रगड़ कर उसके माथे पर निशान पड़ गया था. उसने कहा, "मुझे क्यों पकड़ रहे हो, मैं तो मस्जिद में सजदा करके आ रहा हूं."

"चलो!" पुलिस वालों ने कहा, "अब थाने जाकर सजदा करना."

दो

मंत्री जी दौरे पर गये. मंत्रालय से संबंधित एक विभाग में जांच करने पहुंचे और वहां के अधिकारियों से आग-बबूला होकर पूछने लगे, "अमुक काम अभी तक क्यों नहीं हुआ? आखिर आप लोग करते क्या हैं?"

अधिकारी हाथ जोड़ कर खड़े हो गये.

"हम तो वह काम करना चाहते हैं, पर क्या करें मंत्रालय से सर्कुलर आ गया."

"सर्कुलर!" मंत्री महोदय ने हैरानी से कहा, "किसने भेजा वह सर्कुलर! मैं लोकसभा में जवाब दे-देकर तंग आ गया हूं."

"साहब उस पर आपके हस्ताक्षर थे."

"मेरे!" मंत्री महोदय ने कहा, "ठीक है, मैं जाकर देखूंगा, आप अपना काम करें."

मंत्री जी के जाने के बाद जब वह काम शुरू होने लगा तो सर्कुलर का 'रिमाइंडर' आ गया और काम फिर रोक दिया गया. अगली बार जब मंत्री महोदय दौरे पर गये तो वह फिर अधिकारियों से उसी काम के बारे में पूछ रहे थे. अधिकारी उसी तरह हाथ बांधे खड़ा था.

"आपके सर्कुलर ने हाथ बांध दिये."

"फिर वही सर्कुलर!" मंत्री जी ने कहा, "यह सर्कुलर तो सरकारी काम है. आते ही रहेंगे, आप अपना काम करें."

तीन

बस दुर्घटना में कुछ व्यक्ति मर गये और कुछ घायल हो गये. जब अधिकारी घटना-स्थल पर मुआयना करने पहुंचे तो एक छोटे अधिकारी ने कहा, "मृतकों को देखेंगे."

"उसकी क्या जरूरत है!" बड़े अधिकारी ने कहा, "बस को ही देख लेते हैं."

▣ ब्रजेश्वर मदान

छीतू बात कर रहे थे, "यार, ये अच्छा नी हुआ."

सेठ कह रहे थे, "चिंता मत कर, जमानत मैं दे दूंगा."

पटेल कह रहे थे, "जेल से छूटकर बेटा यहां आ जाना, तेरा घर है. चिंता मत करना." मगन रोने लगा था....

▣

किसन ने अमित को जब यह खबर दी तो वीरपुर के मेले का सारा दृश्य उसकी आंखों में खिंच गया था. पीला साफ़ा बांधे मगन कांच की चूड़ियों का मोल-भाव कर रहा था. मानू चूड़ा उलट-पलट रही थी. मगन, मास्टर अमित को देख खड़ा हो गया था, "चूड़ी की दुकान पर क्या कर रहे हो?"

"इका वास्ते..." मानू की तरफ इशारा करते हुए मगन ने कहा था.

"अच्छा-अच्छा, मगन मैं चलता हूं." चूड़ा धरकर मानू ने अमित को दोनों हाथ जोड़ राम-राम बोली थी. अमित ने लक्ष्य किया था उसके चेहरे से एक समझदारी मालूम पड़ती थी. मानू बोली थी, "ई तमारी घणी बात करे है, भैया जी,"

अरे वा, मगन ने बताया था मानू दूसरी तक पढ़ी-लिखी है, मानू ने गर्व से, बड़े भोलेपन से अमित को देखा था. अमित की आंखों में पीपल के पेड़ से दृश्य फिर उतरने लगा था. "अच्छी बात है मानू जीजी, ज़्यादा पढ़ना था, तकदीर की बात है...." मगन ने कहा था, "माट् साब—चाय..."

"नहीं-नहीं मगन मुझे थोड़ा काम है....," और अमित आगे बढ़ गया था. अमित को लगा जैसे कै हो जायेगी और वह कमरे में चक्कर लगाने लगा.

▣

मगन को सजा हो गयी थी. मानू को गांव से लोगों ने बहिष्कृत कर दिया था. किसी रात के अंधेरे में टिटहरी बोली थी. तारों की हिरनी खिसक रही थी और गाड़ी के रास्ते पर खेत की मेड़-मेड़ सिर पर कुछ रखे मानू अंधेरे में न जाने कहां चली जा रही थी.

▣

स्पष्टीकरण देने के आठ दिन बाद ही मास्टर अमित का दूसरी तहसील के एक शहरी इलाके में ट्रांसफर कर दिया गया था. कुछ हरिजन-आदिवासी, कुछ बच्चे विदा करने आये थे. किसना-छीतू की आंखों में आंसू थे. बस्ती के लोग कह रहे थे, "मास्टर बाब, हमारा क्या होगा?" इतना असहाय अमित ने अपने को कभी नहीं महसूसा था. आंखों से आंसू टपकने लगे थे. आंसू की भाषा में सारी व्यथा कह दी थी. गाड़ी आ गयी थी. बिस्तर के नाम पर एक दरी, एक कंबल था. कुछ किताबें, एक डिब्बा, थाली, तवा था. छीतू दौड़कर किताबों का छोटा पुलंदा उठा लाया था, "माट् साब ये?"

"हां लाओ." आगे की सीट पर अमित बैठ गये थे. कुछ लोग बस्ती के और जमा हो रहे थे. अमित ने एक वेदनामयी मुस्कराहट फेंकी और रूमाल में अपना मुंह छिपा लिया. □

पुंजापुरा, बागली, देवास (म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघुकथाएं

रोटी या पाप

■ विष्णु प्रभाकर

उगते सूरज की किरणें अभी समुद्र की इठलाती लहरों को चूम भी नहीं पायीं थी कि फुटपाथ पर बैठे भिखमंगों में आपा-धापी मच उठी. सेठ की आलीशान मोटर वहां आकर रुक चुकी थी. उसकी आवाज़ उन्हें उसी तरह उद्वेलित कर देती थी जैसे भोजन का समय होने पर कुत्तों के मुंह से अपने आप ही लार टपकने लगती है.

सदा की तरह सेठजी के हाथ में एक बड़ा-सा पैकेट था. उसी में से निकाल-निकाल कर वे डबलरोटी का एक-एक टुकड़ा हर एक भिखारी पर फेंकने लगे. एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ में वे भिखारी उन टुकड़ों पर लपकते-झपटते. कुछ तो उन्हें छिपाकर आगे भी जा बैठते. सेठ जो देखते रहते और घृणा से हंसते रहते. कभी-कभी बोल भी उठते, "लोग कहते हैं कि ग़रीब बड़े ईमानदार होते हैं."

लेकिन एक दिन सब कुछ उलट-पुलट हो गया. उन्होंने देखा कि भीड़ से दूर एक भिखारी चुपचाप इस दृश्य को देखता उन्हें घूर रहा है. उसने रोटी का वह टुकड़ा लेने के लिए हाथ तक नहीं हिलाया. सेठ जी ने उससे पूछा, "तुझे रोटी मिली?"

उत्तर दिया उसने, "रोटी है कहां जो मुझे मिलती!"

"क्या यह रोटी नहीं है?"

"नहीं."

"तो क्या है?"

"आपके पाप. आप रोटी नहीं, अपने पाप बांट रहे हैं. मुझे पाप नहीं 'आप' चाहिए. दे सकेंगे अपने आपको?"

सेठ जी सकते में आ गये लेकिन बस एक क्षण के लिए. दूसरे ही क्षण उपेक्षा से हंसकर बोले, "तू भूखा नहीं है. दो आखर पेट में पड़ गये हैं शायद. तभी रोटी को पाप कहता है."

और वे पूर्वतः 'रोटी' बांटने के लिए आगे बढ़ गये □

नारद का अहंकार

■ लक्ष्मीकांत वैष्णव

उन दिनों नारद को अपने बुद्धिमान होने का गर्व हो आया था. सरे-आम कहते फिर रहे थे कि मैं सिवाय भगवान के और किसी से नहीं डरता. लोगों को यह बात खली. लोग भगवान विष्णु के पास पहुंचे और अपना दुखड़ा रोया. बोले, "प्रभु, माना कि नारद हम लोगों से बुद्धिमान हैं, मगर इस बात का ज़िक्र चार आदमियों के बीच करके इन्हें हमें ज़लील करने का कोई अधिकार नहीं."

विष्णु ने पूछा कि क्या करें? लोगों ने कहा कि एक ही उपाय है, "नारद को पृथ्वी पर भेजा जाये और उसे कुछ वर्षों तक सरकारी नौकरी करने को मज़बूर किया जाये.

"इससे क्या होगा?" विष्णु ने पूछा.

"दस-बारह तबादलों, चार-छह विभागीय जांचों और एक-दो बार सस्पेंड होने पर ठीक हो जायेगा प्रभु! हमारे जैसे दस अकलमंद उनके ऊपर बैठेंगे तो वह अपने आप रास्ते पर आ जायेंगे. □

अनलिखा

■ हरनाम शर्मा

लंच-बॉक्स खुलते ही, मेरे चहुं ओर शुद्ध घी में तली सब्ज़ी की महक फैल गयी, जिसका स्वाद मैंने उसे खा कर और निकट बैठे एक मज़दूर ने सूंघ कर लिया. वह बैठा किसी को ख़त लिख रहा था. लिखते-लिखते उसने एक-दो बार मेरी तरफ़ देखा, तो मुझे कुछ अटपटा-सा लगा. मैंने एक रोटी उसकी ओर बढ़ा दी.

उसने कहा, "नहीं बाबू जी, हम खाते हैं." हालांकि साफ ज़ाहिर था कि वह कभी खा पाता है, कभी नहीं. दिन-रात मशीनों पर काम करके उसे न तो खाने का अवकाश मिलता है और न स्वाद!

मैंने फिर आग्रह किया तो उसने कहा, "चार रोटियां खा चुकने के बाद मुझे एक रोटी देने का आपका आशय?"

इसका उत्तर हालांकि मेरे पास नहीं था. किंतु मैं बोला, "नहीं, खा लो, तुम बुरा न मानो मैंने बिल्कुल सादगी से पूछा है. इसे कुछ और न समझो."

उसने मेरे हाथ से रोटी ले ली और तुरंत बड़ी शालीनता से कहा, "बुरा न मानें, मैं भी आपकी यह रोटी बड़ी सादगी से लौटाता हूं. अपनी रोटी मैं वक़्त पर खा चुका हूं."

मैं हड़बड़ा कर पीछे हटा तो वह भी मुस्कराता हुआ चला गया.

जिस पुर्जे पर वह ख़त लिख रहा था, वह वहीं रह गया. लिखा था, "मां, वहां हल चलाकर शाम को रोटी नसीब हो जाती थी. यहां न सोने का समय है, न तुम्हें याद करने का और रोटी खाने का तो, न समय है और न पैसे! □

परिवर्तन

■ मोहन कानूनगो

"अपने बच्चे को क्या ख़ाक कान्वेंट में पढ़ायेगा तू भुखमरा...!" फिल्म के इस संवाद पर सेंसर को आपत्ति थी. क्योंकि सिचुएशन में यह एक शिक्षक को संबोधित करके बोला गया था. और शिक्षक तो राष्ट्र का कर्णधार है उसे पर्दे पर भुखमरा नहीं कहा जा सकता. इसमें तबदीली ज़रूरी थी. निर्माता ने संवाद लेखक को स्थिति समझायी और उक्त संवाद में परिवर्तन करने को कहा. संवाद लेखक ने पलक झपकते 'भुखमरा' शब्द निकालकर संवाद सुधार दिया. फिल्म रिलीज़ हो गयी. फिल्म में अब वह संवाद इस तरह है... "अपने बच्चे को क्या ख़ाक कान्वेंट में पढ़ायेगा तू मास्टर...!" □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

▣ छायाकार: सतींद्र कुमार चड्ढा
छाया विभाग, टाइम्स ऑफ इंडिया,
टाइम्स हाऊस, नयी दिल्ली-2

तस्वीर बोलती है

बड़ी रौनकें हैं फकीरों के डेरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ज्वालामुखी के चेहरे
और बर्फ से सर्द जख्मों वाली
दोहरी जिंदगी की कहानी, जो न जीने से डरी, न मरने से!

नाम तो उसका कुछ और था, पर मैं कहूंगा—मलखान...मलखानसिंह! बीहड़ों के जाने कितने कोने-कांतरों में या तो किसी जिंदगी की अधकही कहानी पड़ी रह गयी है, या फिर किसी की कहानी खत्म हो गयी है. मलखान की कहानी भी ऐसी ही कहानियों में से एक है. पर वह आप तक इसलिए आ रही है, क्योंकि मलखानसिंह थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा था. टूटी-फूटी भाषा में अपनी बात लिखता रहा और यह लिखित दस्तावेज एक दिन बीहड़ों में गोलियों की बाढ़ के बीच छूट गया...मलखान की लाश लगी पुलिस के हाथ और एक शहर में चारपाई पर टांगकर प्रदर्शनार्थ रखी गयी— 'ताकि सनद रहे और वक़्त-बेवक़्त सबक दे' ....पर डायरी आ पहुंची मेरे हाथ. इस डायरी के आधार पर मलखानसिंह की कहानी 'सारिका' के पृष्ठों पर प्रस्तुत करके आप तक पहुंचा रहा हूं—"ताकि सनद रहे और 'उसे' समझने में काम आये, जिसकी लाश वह सब नहीं सुना-समझा सकती थी, जो वह कहना चाहता था..."

▣ रामकुमार भ्रमर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बाग़ी का आत्ममंथन : पहली किस्त

...ताकि सनद रहे...

• रामकुमार भ्रमर

बिरज तूने अच्छा नहीं किया! . . . बार-बार ये शब्द मेरी आंतों के बीच उमड़ते-उमड़ते गले तक आते हैं और बर्फ़ की तरह जम कर रह जाते हैं. जाने कितनी तहें लग गयी हैं इन शब्दों की. सारा गला बंद. बोलूंगा नहीं, पर महसूस न कर पाना मेरे वश में नहीं.

बिरज ने फूला की सगाई तोड़ दी. फूला—मेरी बेटी! बिरज—मेरा बालसखा!

खबर सुनी थी और लगा था जैसे—जो खबर लाया है—वह खबर नहीं, दो जलती हुई सलाखें लाया है और एक साथ दोनों को मेरे कानों में घुसेड़ दिया है. छन्न से छनकता लहू. तपती चमड़ी! फटता माथा!

"बिरज ने . . . !" मैं चीख पड़ा था सुनकर. सहसा मेरी आवाज़ टूट गयी थी. वही शब्द बाहर आये थे फिर से, पर इस बार नया अर्थ लिए हुए. अविश्वसनीय अचरज का अर्थ, "बिरज ने—ऐं?"

"हां, ठाकुर बिरजसिंह ने . . !" संदेशवाहक बोला था, "कहा है कि मलखान ठाकुर से मेरी हाथ जोड़कर विनती पहुंचाना—मैं लाचार हो गया हूं. अब मेरे बेटे और फूला की बात नहीं ठहर सकेगी! . . . कहना कि समझें संजोग ही नहीं था."

मैं चुप देखता रहा था उसे. सुबह-सवेरे खबर मिली थी. जिस गांव के बीहड़ में रात ठहरे थे, वहां से चाय लेकर आया था वह आदमी. साथ में खबर. दस किलोमीटर दूर मेरा अपना गांव है. बिरज का गांव भी है. मेरा अपना घर भी. बिरज का घर भी.

बिरजसिंह ने जो लाचारी बतलायी, सो समझ रहा था मैं. भला कौन लेगा बाग़ी के घर की बेटी? रोज़ पुलिस का दौर-दौरा. रोज़ की हाय-हाय, किट्-किट. एक तरह का क्लेश! यह सब जानता मैं भी हूं, पर मानूंगा नहीं. कैसे मान सकता हूं? बीहड़ों के सोलह गांव नाम पुजता है मेरा. ठाकुर मलखानसिंह! . . बिना छत्र के राजा. बीहड़ में दस आदमी बेलगाम राईफलें लिये घूमते हैं. इनकी नली से इस इलाके में हुक्म निकलता है. 'हां' तो 'हां', 'ना' तो 'ना'. जो चाहा सो किया है, जो मांगा सो पा लिया. बिरज ने सगाई नहीं तोड़ी, मेरे राज की सीमा तोड़ दी. समझकर भी सह नहीं पाऊंगा. चार गांव बात फैलेगी? क्या आबरू रहेगी मेरी? और क्या बात रह जायेगी गिरोह की? . . . . बात गयी और जात गयी; घोर अपमान! नहीं सहूंगा!

पर बिरज का एक पहलू है. वह है संसारी आदमी. चार लोगों के बीच रह रहा है. मेरी तरह आंधी, बालू और वीराने वाली ज़िंदगी, उसकी ज़िंदगी नहीं. पुलिस-समाज सी तरह के दबाव थे बिरज पर. जितने दिन सह पाया होगा, सह गया. जब बहुत वज़न आया होगा तो दबाव से चटक गया, पुरानी सड़ी लकड़ी की तरह. फूला की सगाई छोड़ दी.

मगर भूल गया बिरज. भूल गया कि फूला, मलखान की बेटी है. यह भी भूल गया कि मलखान की बेटी का बना संबंध तोड़ना ऐसे ही है, जैसे बारूद को पलीता दिखाया जाना! ऐसे दब्बू संसारियों के निवेदनों में लिपटे अपमान, अगर मैं सहता रहा तो इन बीहड़ों में साख ही क्या रहेगी मेरी? सब कहेंगे—लड़की में कोई खोट रहा होगा! हो सकता है यह माना जाये कि बिरजसिंह दिलेर आदमी है. मलखान की बेटी से अपने बेटे की सगाई तोड़ कर मलखान की सारी वीर-बहादुरी पर थूक दिया! . . . ठाकुर का बच्चा बिरजसिंह हुआ!

तब मलखानसिंह किसका बच्चा हुआ, जो यह सहे? . . मैं नहीं सहूंगा!

मैंने सहा भी नहीं है . . . तपती दोपहर में बीहड़ पार किये हैं पूरे गिरोह में. आज ही बात करनी पड़ेगी बिरज से. . . . और बात नहीं करूंगा मैं. गिरोह में सभी ने राय दी है—ठाकुर, बिरज को सबक दिया जायेगा!

सबक दूंगा बिरजसिंह को! . . . मैंने जबड़े भींच लिये थे.

बिरज तूने अच्छा नहीं किया! . . . मुझे तकलीफ होने लगी थी. गांव के करीब पहुंच रहे थे हम.

गोधूलि! गांव तक पहुंचते-पहुंचते शाम हो जायेगी. रात की शुरुआत के साथ बिरज का फैसला करना होगा. मलखान की बेटी नहीं छोड़ी उसने, अपनी सांसें छोड़ दीं! . . मूरख!

बिरज की सांसें लेते वक्त मुझे तकलीफ ज़रूर होगी. होने की ठहरी. पर क्या किया जाये? बीहड़ों का ये संसार ही अलग है. रीति-रिवाज़, रहन-सहन, जीना, जीने के तरीके . . . सब अलग. मैंने वह सब किया है, जो कभी नहीं चाहा.

शायद बिरजसिंह ने भी यही किया है, जो वह नहीं करना चाहता रहा होगा.

पर मैं रहूं या बिरज. उसके साथ यही होता है. अनचाहे ही अनचाहा किया जाता है. इन मौत के टीलों से लेकर, मंदिरों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ट्रस्टों तक आदमी को वही करना पड़ता है, जो नहीं करना चाहिये.

कैसा लगेगा, जब बिरज को गोली मारूंगा? . . . क्या सोचेगा वह? मैं, उसका बालसखा!

उसने क्यों नहीं सोचा जब सगाई तोड़ी? . . . उसने सोचा, मुझे कैसा लगा होगा? मैं, जो उसका बालसखा हूं!

स्साला! . . .

बिरजसिंह मेरे गांव का. मेरा अपना. हम उम्र. हम बदन. हमज़ात. हमराज़. साथ खेले, साथ हंसे. साल भर की छोटई-बड़ाई. ज़िंदगी हम दोनों ने साथ शुरू की, किसानी से.

पर सब कुछ साथ-साथ चलता है, सिरफ़ भाग साथ नहीं चलता. उसके अपने रास्ते. बिरज के खेत में सरसों लहलहायी. फूल खिले. मेरी किसानी बदल गयी इन बीहड़ों में. मिट्टी फट गयी. फसलों की जगह ठूंठ शेष रहे.

▣

बिरज तूने अच्छा नहीं किया ! . .

पर तू कर भी क्या सकता था? . . . तेरी जगह मैं होता तो मैं भी क्या करता? शायद यही, जो तूने किया है . . .

और मेरी जगह तू होता तो शायद तुझे भी वही करना पड़ता, जो मैं करूंगा . . .

बढ़ते धुंधलके की रफ़्तार हम लोगों से ज़्यादा तेज़ है. लगता है जैसे एक बेवकूफी भरी होड़ कर रहे हैं हम लोग. मैं और गिरोह के नौ आदमी.

ऐसी बेतुकी होड़ें चलती नहीं हैं. चली भी नहीं. धुंधलका बदल गया रात में. गांव तक आते-आते पैर जमने-से लगे. दीखना-सूझना बंद. टार्च जलायी नहीं जा सकती. जिसने बिरजसिंह के बारे में ख़बर दी थी, वही यह ख़बर भी दे गया था कि एक दिन पहले ही एस. ए. एफ़. की एक टुकड़ी इस गांव से होकर निकली है. चार घरों में, चार तरह पुलिस वालों ने पड़ताल कर ली थी.

"मलखान तो नहीं आया?"

"नहीं हुजूर!"

"झूठ बोलते हो स्साले?"

"भगवती की सौगंध!"

"ठीक है . . . उसे तो हम देखेंगे ही, पर तुम्हारे अस्तर भी उघेड़ लेंगे!" माटी रौंदते, शब्दों की धूल उछालते पुलिस वाले किसी और गांव निकल गये थे.

निकल गये हैं, पर उनका विश्वास नहीं किया जा सकता कि सचमुच निकले हैं. किस मुखबिर से कहां ख़बर पा जायेंगे— तय नहीं. लौट पड़ेंगे आंधी-तूफ़ान की तरह. हवा में से मुखबिर पैदा कर लेते हैं कम्बख़्त!

और मुखबिर भी तो कैसे हैं—हवा में से पैदा हो जाते हैं! ज़रा धमकी मिली नहीं कि मुखबिर तैयार हुआ नहीं. मुझे बदरी याद आता है. अच्छा भला लड़का था—बाईस साल की उमर. नये ख़ून के उबाल से भरा बदन. मेरे पास आया था प्यारे के साथ. प्यारे नाई. वही गिरोह के बाल बनाने आया करता था. अंगरेज़ी औजार और क्रीम-पाउडर लाता था. उस बार बदरी को भी साथ लाया था. हाथ बांधकर दोनों सामने आ खड़े हुए थे, "पा-लागें ठाकुर!"

"कैसा है रे?" मैंने प्यारे से पूछा था, फिर नज़र बदरी पर ठहरा दी थी. लगता था कि आदमी से ज़्यादा मलाई की परत है. चेहरे पर दाढ़ी-मूछें, नये बाल, गोरा बदन. नज़र की मार से दरक जाने वाला जिस्म. मेरी आंख के ठहराव ने उसके चेहरे पर घिघियाहट उभार दी थी. प्यारे ने फौरन कहा था, "करमपुरा के पटवारी का बेटा है—बदरीलाल."

बदरी फिर से झुक गया था. . . . घुटनों-घुटनों. हौले-से गरदन हिलाकर मैंने अभिवादन स्वीकार लिया था उसका, फिर याद किया था करमपुरा के पटवारी को. मुझसे पहले इस गैंग को हरचरन चलाता था और करमपुरा का पटवारी उसे सामान 'सप्लाई' करता था. आगरा, इटावा, ग्वालियर जाकर हफ़्ते-दो हफ़्ते में गिरोह की फरमाइशें ख़रीद लाता. तीन गुने पर माल बेचता—देता. फिर एक दिन हरचरन मारा गया और करमपुरा के पटवारी की मौत लू लगने से हो गयी. तब से गैंग का रिश्ता टूट गया था, पर आज खड़ा था मेरे सामने—बदरी. उसी पटवारी का बेटा!

प्यारे नाई ने उसकी अगवाई का कारण बतलाया था, "बदरीलाल ने बाप की पटवारगिरी सम्हाल ली है. अब चाहता है कि आपकी भी कुछ सेवा करे."

सेवा यानी तीन गुने का व्यापार! समझ गया था मैं. ज़्यादा जांच-परख की ज़रूरत नहीं थी. 'हां' कह दिया था मैंने. गैंग से बदरी के बाप के ज़माने से रिश्ता चला आ रहा था—पड़ताल की भला क्या ज़रूरत थी. बस, बदरी पर एक शंकित दृष्टि डालने के बाद हौले से प्यारे को बुलाया था मैंने, "आदमी तो मज़बूत है, कहीं चीड़ की लकड़ी की नांई पहली बार में ही पुलिस वालों के सामने टूट न जाये!"

"उसकी चिंता मत करो, ठाकुर. लड़का दम-खम वाला है".

पर वही दम-खम-वाला चीड़ से भी गया-बीता साबित हुआ. जाने कैसे पुलिस के सामने घुटने टेक बैठा. हाथ जोड़े होंगे, कहा होगा, "मुझे छोड़ दो हज़ूर! . . . मलखान ठाकुर की सब ख़बरें दे दिया करूंगा".

और सच ही सब ख़बरें पहुंचने लगी थीं पुलिस के पास. पर अधकचरा मुखबिर था बदरी. यह अक्ल ही नहीं थी कि मुखबिरी का भी एक सलीका होता है, जैसे अफ़सरी का होता है. हर पल बोलना भी संभल के, चलना भी संभल के और दांव लगाना भी संभल के. पर तीनों में से एक भी तरीका नहीं आया था उसे. जब बदरी आता, गैंग से पुलिस का एनकाउंटर होता. चार बार में ही मैं क्या, सारा गिरोह समझ गया था—बदरी पुलिस का मुखबिर है! और जब यह समझ लिया जाये कि मुखबिर है तो आगे ज़्यादा सोचने-समझने की ज़रूरत नहीं होती. हुई भी नहीं थी. ऐसे ही एक बार बदरी को अचानक बुलवा लिया था घर से. कहलवाया था—इस बार पिछली सारी दोस्ती का सिला दूंगा तुझे!

और सिला दिया था बदरी को—एक गोली! . . . कपाल खिल गया था उसका. ऐसे, जैसे राह चलते मेंढक पर पैर पड़ गया हो . . . . छितराये बाल, मांस के लोथड़े और यहां-वहां लटकी-चिपकी नसें. मुखबिर!

पर एक सोच मन में था . . . बदरी ने मुखबिरी क्यों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कइयों से जानकारी की थी पर पता नहीं चला था कि वैसा क्यों करना पड़ा बदरी को. लगा था—आदमी नहीं, चीड़ का पेड़ था. पहली चोट में ही चटक गया होगा. और कोई कारण नहीं. पर अक्सर ऐसा होता नहीं. मुख़बिर किसी गहरे कारण से ही बनते हैं. बाग़ी से बैर, पुलिस वाले से बैर, किसी गांव वाले से पड़ी गांठ या फिर किसी औरत को पा लेने की शर्त या छोड़ देने की लाचारी! यही कुछ कारण होते हैं जो मुख़बिर भी बनाते हैं, राज़दार भी.

पर बदरी उनमें से कुछ भी नहीं था. आज तक सोच रहा हूं कारण—क्यों बना था वह मुख़बिर? .... कई बार बहुत-सी बातें अकारण ही हो जाती हैं न? ऐसे ही अकारण हो गया होगा मुख़बिर.

बहरहाल मैंने बदरी की लाश गांव में भिजवा दी थी. फिर राईफल हवा में उठाये हुए सारे गांव को ख़बर दे आया था मैं, "देख लो इसे! ... यही हाल करूंगा, जो मुझ से दग़ा-धोखा करेगा!" उसके बाद सरपंच को बुलवाकर ख़बर दी थी, "चौधरी, यह रहा तुम्हारे गांव का लड़का. थाने वालों को सौंप देना. कहना कि अगर वे 'अपने आदमी' पैदा कर सकते हैं तो मलखान सिंह को उन्हें मारना आता है! सम्हाल लें इस हराम की औलाद को!"

चला आया था मैं. पीछे-पीछे गिरोह. ऐसे ही धुंधलके की बात है. वह धुंधलका भी रात में बदल गया था. पर बदरी का ख़्याल कई दिनों तक दिमाग़ से नहीं बदला. आख़िर मुख़बिर क्यों हुआ था बदरी? क्या सिर्फ़ मार के डर से? ... सोचता रहा था मैं—बदरी, तूने अच्छा नहीं किया.

उसे मारने से पहले भी सोचा था, आज भी सोच रहा हूं ... और एक बदरी के बारे में ही क्यों, मैं तो उस हर आदमी के बारे, हर बात के बारे में सोचता रहा हूं, जो समझ नहीं आती, या जिसका कारण मैं नहीं ढूंढ़ पाता. कारण बदरी का भी नहीं मिला था.... बिरज का भी नहीं मिल रहा है ...

शायद नहीं. बिरज का कारण तो है—पुलिस की धौंस-धमकी! मगर नहीं. इस बार कोरे अनुमान पर नहीं चलूंगा—पूछूंगा बिरज से, "बोल, कारण क्या है? किसलिए फूला की सगाई तोड़ी है तूने? ..."

और फिर सोचूंगा कि बिरज ने अच्छा किया या नहीं?

▣

"बिरज! .... तूने अच्छा नहीं किया!" मैं राईफल थामे उसके सामने खड़ा हूं. बोल रहा हूं, उसके प्रति स्नेह से भर कर, पर देख रहा हूं एक भेड़िये की तरह. राईफल की नली उसके सीने की ओर झुकी हुई है. गिरोह के साथियों की नज़रें चौकन्नी. दर्शक इक्का-दुक्का हैं, बिरज की रोज़ की बैठक वाले. मेरे गांव के मेरे अपने. किसी ने मेरा बचपन देखा है, किसी ने जनम और किसी ने जवानी ... कुछ होंगे जो शायद मौत भी देख लेंगे.

बिरज के माथे पर पसीने की बूंदें—एक दो नहीं, दस-बीस-सौ. छोटी-बड़ी-मंझोली. जनमती हुईं, लोप होती हुईं. मृत्युभय से बदलाया हुआ चेहरा. लगता है एकदम बारिश की तरह झरझरा-कर रो पड़ेगा. आवाज़ नहीं होगी हिचकियों की. शब्द गिने-चुने .... बिजली की तड़प जैसे कौंधते हुए, पर आधे-अधूरे.

"नहीं, मलखान ... छोड़ दे मुझे ... मैं तेरा दोस्त हूं—एक थाली में रोटी खायी है हमने!"

और मैं कहूंगा, "इसीलिए पूछ रहा हूं, बिरज, तूने अच्छा नहीं किया!"

पर इस समय वैसी नौबत ही नहीं. बिरज से सवाल किया था मैंने, "सगाई तोड़ी तूने? ... क्यों?"

बिरज ने थूक का घूंट निगला, फिर गिरोह वालों की तरफ़ नज़रें घुमायीं. चेहरे पर जमी बदली ज़्यादा गहरी हो गयी. एकदम काली घटा. आंखों में हताशा तिर आयी. जैसे-तैसे बोल पाया वह, "पांच मिलट तसल्ली से बैठ ले, मलखान ... बताता हूं सब!"

"अब बताने को बचा क्या है बे?" मैंने अपनी ओर से बहुत क्रोधित होना चाहा है, पर अजीब बात है! शब्द ऐसे और इस टोन में निकले हैं, जैसे मैं और बिरज सरकारी बाग़ीचे से आम चुराते समय परस्पर शिकायत किया करते थे, "तूने दो ज़्यादा मार लिये .... !"

जो चोर होता, स्वीकार लेता, फिर ईमानदारी से हिस्सा-बांटता. कहता, "ले, यह ले एक!"

और दूसरा करुण स्वर में रूठता, "हिस्सा! ... वह बात नहीं रही. हट बे!"

बिलकुल ऐसे ही! ... सच ही तो आज रूठ गया हूं मैं. अब वह बात नहीं रही.

बिरज बोला था, "मेरी बात सुन मलखान ... दो मिलट ... तसल्ली से बैठ!"

शायद मैं नहीं बैठता, सुनता भी नहीं. यही सोचकर चला आया था. यही सोचे हुए था, पर बिरज के शब्दों ने राईफल मोड़ दी थी दूसरी तरफ़. मेरे हाथों से ज़्यादा ताकत थी उन शब्दों में. मैं उसके पास बैठ गया हूं—चबूतरे पर. बिरज ने अपनी धोती का एक हिस्सा उठाकर माथे का पसीना पोंछ लिया है. एकदम कुछ न कहकर दो बीड़ी सुलगायी हैं, एक मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा है, "फूला की सगाई मैंने नहीं तोड़ी. राधा ने तोड़ दी!"

मैं आश्चर्य और क्रोध से देखता हूं उसे. बड़बड़ाता हूं, "राधा ने?" राधा, बिरज की बेटी है. फूला की हम उम्र. कहता हूं, "चराता है स्साले! ... घर राधा चला रही है, या तू?"

"घर मैं ही चला रहा हूं और इसीलिए राधा की ख़ातिर .." बिरज के स्वर में कमज़ोरी है, "मलखान, जिस घर में राधा के ब्याह की बात ठहरी है, वहां से ख़बर आयी है कि मलखान की बेटी घर लाओगे तो राधा को नहीं लेंगे! ... अब तू ही सोच, भईया . . ?"

और मैं चुप हो गया हूं. चेहरा तनाव से भर उठा है. मेरा दोस्त बनता है स्साला! और अपनी बेटी की ख़ातिर मेरी बेटी के सपनों को पलीता बता दिया हरामी ने! ... याद रख, बिरज! .. तूने अच्छा नहीं किया.

बिरज कुछ और कहना चाहता है, तभी मैं पूछता हूं, "तू कह चुका अपनी बात . . ?"

"हां, अब तू ही फ़ैसला कर! ...." बिरज कातर हो उठा है, "मेरी जगह तू होता तो .... !"

मैं उठ पड़ा हूं, "यही बतलाता हूं स्साले! .." मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राईफल बिरज की कनपटी पर टिका दी है, "वही बतला रहा हूं . . . और एक सवाल भी करता हूं—मेरी जगह तू होता तो क्या करता? . . . . " मैंने ट्रिगर पर अंगुली टिका ली है. पर जाने क्यों दबा नहीं पाता एकदम. शायद मैं बिरज को गिड़गिड़ाते, माफ़ी मांगते, पैरों में लोटते हुए देखना चाहता हूं. इस तरह लोगों को देखने में मुझे सुख मिलता है . . . सुख की बड़ी-बड़ी अजीब क़िस्में हैं संसार में.

पर बिरज नहीं गिड़गिड़ाता. इस बार उसके चेहरे पर पसीना भी नहीं आया है. बदली भी नहीं. वही मौसम, जो बिरज के अपने चेहरे का मौसम है.

जो भी हो, बिरज स्साला है हिम्मतवर! . . . मुझे याद आता है, एक बार इसी तरह बिरज अपने बाप के लातों-जूतों के सामने खड़ा रह गया था—प्रभावहीन. पथरीला होकर. कारण जायज़ था, मार नाजायज़. तहसीलदार के बेटे को गाली देने पर पीट डाला था बिरज ने. और इसी कारण बिरज अपने बाप से पिट रहा था. पिटने के साथ हिदायत थी, "बोल ऐसा क्यों किया तूने? . . . . बोल?"

और बिरज बोला नहीं था. क्या बोलता! . . . और आज भी नहीं बोल रहा है बिरज.

मगर दुनिया में कई जगह, कई स्थितियां, कई मौके ऐसे होते हैं जब ग़लत ही सही होता है. एक तहसीलदार के बेटे को सामान्य किसान के बेटे का पीट डालना ग़लत था . . .

और इसीलिए अपनी ख़ातिर मलखान की बेटी को स्वीकार न कर पाना, सही होते हुए भी ग़लत है! . . .

"हरामी स्साले! . . . तू दोस्त है मेरा? . . . मेरी आबरू उतारी तूने? . . . . ले! . . ." सहसा मैं चीख पड़ा था. सोचना बंद कर दिया था मैंने. बंद नहीं किया था, हो गया था. ऐसा होता रहता है मेरे साथ. ट्रिगर पर अंगुली दबने को ही थी कि पथरा कर रह गया था मेरा जिस्म. राधा सामने आ खड़ी हुई थी—चुप, पर आंखें भरी हुईं—बरसात में गांव का ताल ऐसे ही मुंह-मुंह तक भर आता है.

राधा! . . . . राईफल पर पकड़ ढीली हो गयी थी मेरी.

"कक्का! . . . ." वह मेरे करीब आ गयी थी. वह मेरे सीने से लग गयी थी. मेरे और उसके बीच राईफल थी, जिसे हौले से मैंने बीच से हटा लिया था. मैं उसका सिर दुलराने लगा था. . . बिल्कुल मेरी बेटी फूला जैसी है कम्बख्त! . . . . वैसी ही भोली, वैसी ही सरल, वैसी ही शांत. रोयेगी तो लगेगा जैसे धीमे-धीमे सितार झनझनाया है—करुण ध्वनि में.

एक ताल मेरे भीतर भी भर आया है—छलछलाता हुआ. मैं गिड़गिड़ाकर पूछने लगा हूं राधा से, "कैसी है बिटिया? . . . ठीक है ना? . . . . प्चु! . . . . प्चु! . . . ."

गिरोह के लोग सिटपिटा गये हैं. सहसा बिरज उठ पड़ता है "मार न मुझे गोली! मलखान स्साले मार! . . . . तू मुझे क्या मारने आया था? मुझसे पहले तो तू मर गया है स्साले! . . ." बिरज बदहवास होकर पागलों की तरह बड़बड़ाने लगा है.

और मैं क्या करूं? . . . . एक ओर हिचकियां लेती राधा खड़ी है. दूसरी ओर सिटपिटाये हुए दर्शक ग्रामीण. इर्द-गिर्द गिरोह वाले. . . किसी के चेहरे पर आंच, किसी के चेहरे पर समुंदर . . . .

मैं लौट पड़ता हूं . . . टॉर्च नहीं जलायी जा सकती. अंधेरा गहरा हो गया है. गिरोह के लोग पीछे-पीछे आ रहे हैं. बिरज के बोल अब भी पीछा कर रहे हैं मेरा—' . . . . तू मुझे क्या मारने आया था? . . . . मुझ से पहले तो तू मर चुका है! . . .'

▣

मैं चौंक गया हूं! अंधेरे में कोई पीछे से बोला है "ठाकुर! . . . तुमने अच्छा नहीं किया!"

लगता है एक ठोकर लग गयी है. गिरते-गिरते बचा हूं. हां, शायद अच्छा नहीं किया!

नहीं! . . . शायद यही एक मौका है, जब मैंने कुछ अच्छा किया. वरना मेरी इस लंबी, बीहड़ लदी ज़िंदगी में कुछ भी तो अच्छा नहीं है. किसी बार अगर कुछ किया भी है तो ढोंग या फिर वह, जब मैं मलखानसिंह न रहकर कुछ और हो गया हूं. यह 'कुछ और' मेरे भीतर है. नामहीन. दृश्यहीन. आकारहीन.

यह है शायद. . . मेरा अपना आप. यह न मलखानसिंह है न डाकू, न सरदार . . . . यह कुछ भी नहीं है. इसके बावजूद सब कुछ है. यह सब कुछ किसी भी पल कुछ भी बन जाता है और मैं या तो हार जाता हूं, या जीत जाता हूं, या मर जाता हूं, या जी जाता हूं!

बिरज को जीवित छोड़कर कौन आया? मैं अपने आप से जवाब-तलबी करने लगा हूं.

जवाब नहीं है मेरे पास!

मुझे लगता है मैं उस पल मलखानसिंह न रहकर बिरज हो गया था. वह बिरज, जो राधा का बाप है. या सिर्फ़ एक बाप जिसकी एक बेटी होती है.

अंधेरे में बीहड़ी धूल के बीच जूते खुप जाते हैं और 'फिच्च' की आवाज़ पैदा होती है. तेज़ हवा, रेती के बारीक-बारीक कण अपने भीतर समेटे हुए कनपटियों को छूती निकल जाती है. उसकी सरसराहट के साथ हम लोगों के चलने की आवाज़. कुछ सांप एक साथ फुंफकारते हुए.

मैं बिरज को मारने पहुंचा और छोड़ आया. . . ? खबर फैलेगी सब तरफ. कुछ लोग कहेंगे—'मलखान ने बेटी का ख़्याल किया', कुछ कहेंगे—'बिरज से दोस्ती निबाही' और हो सकता है कि कुछ लोग कहें—'मलखान डर गया होगा बिरज से! बिरज को मार देता तो बिरज के सात बेटे हैं और चार भाई . . . . मलखान के दिया जलाने वाला भी कोई न रहता. इसीलिए कतरा गया मलखान!'

शायद ठीक ही कहा है गिरोह के किसी आदमी ने, "ठाकुर तुमने अच्छा नहीं किया!"

क्या होगा उस धाक का जो इर्द-गिर्द सोलह गांवों तक फैली हुई है? मलखान डरपोक साबित हुआ. आबरू धूल हो गयी! कुछ ऐसे भी होंगे जो सोचेंगे कि मलखान ने शायद ठीक किया.

ऐसे लोग सच को समझेंगे. पर एक मुश्किल तो यह है कि दुनिया की सब अच्छी-बुरी बातें अपनी-अपनी तरह, अपने-अपने अर्थ निकाल लिया करती हैं. या यों कि अर्थ निकल आते हैं. शब्दों में बहुत शक्ति होती है.

बदरी फिर से याद हो आया है. जब गोली से उड़ाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी ही प्रतिक्रियाएं हुई थीं. किसी ने कहा था, "मुख़बिर को सज़ा मिली, ठीक है. मलखान के साथ धोखा जो किया था उसने!"

पर सुनते हैं कि किसी-किसी ने यह भी कहा था कि बदरी जैसे लोग ही सच्चे होते हैं. किसी बाग़ी को मरवाने के लिए बदरी ने यदि मुख़बिरी की, तो ग़लत भी क्या किया?

इसलिए बिरज को छोड़ना ठीक हुआ! . . . . और शायद इसीलिए बिरज को छोड़ना ठीक नहीं हुआ.

▣

सन्नाटे की एकरसता तोड़ने के लिए मैं अनायास ही बड़-बड़ाने लगा हूं, "अभी-अभी तुममें से कोई कुछ बोला था रे?"

"हां, ठाकुर!" अंधेरे में एक जवाब उठा है.

"क्या?"

"यही कि तुमने अच्छा नहीं किया."

मैं चुप हो रहा हूं. थोड़ी देर बाद शायद इन्हीं में से कोई

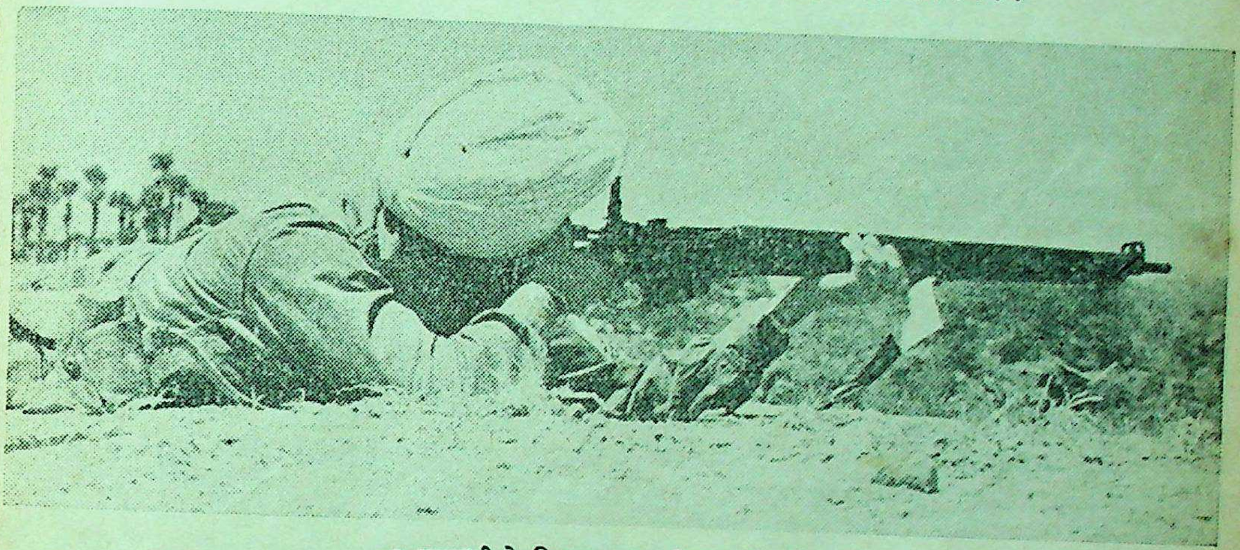

● अपराधी के विरुद्ध कानून की जवाबी राईफल!

बोल बैठे, "नहीं, तुमने अच्छा किया!"

मुझे वह दिन याद हो आया है, जिस दिन मैं पहली-पहली बार इन भुतहे बीहड़ों में उतर आया था . . .

वह दिन . . . . और उससे पहले के कुछ दिन! यहीं से तो 'मलखान' की कहानी शुरू होती है.

एक आदमी की कहानी और डाकू की कहानी . . . मेरी आज तक की ज़िंदगी की कहानी, जिसमें मैं डाकू रह पाने और उसके साथ आदमी को सह पाने का संघर्ष झेल रहा हूं. या यों कि आदमी के रहते डाकू को सह पाने की कोशिश कर रहा हूं . . . पर उन दिनों कहां थे ये सुख-दुख? . .

उन दिनों तो सिर्फ़ मलखान था. बीस साला मलखान. भर जवानी का तड़कता बदन. गठी देह. मन सीधा और उमंगों भरा-भरा. दूर-दूर तक धरती पर बिछे सरसों के भरे खेतों जैसा भविष्य . . . चार अपनों के घर, चालीस बिरानों का समाज. एक छोटी-सी दुनिया . . . आल्हा, रसिया, लंगुरिया . . .

कितने-कितने गीतों से महका रस भरा संसार. और इस संसार में मैं और मेरी बरखा.

सोचता हूं, तो लगता ही नहीं है कि बीस बरस बीत गये!

कच्चे घर के दरवाज़े पर लगे वंदनवार उस समय भी हरियाए हुए थे. जुलाई के बदलाये मौसम में जितने ब्याह होते हैं, इसी तरह हरियाए रहते हैं. और मैं ब्याहा था, इसी मौसम. कच्ची पाटौर के बाहर एक छोटा-सा आंगन. आंगन के गिर्द घिरी कच्ची माटी की दीवार और इस आंगन में गये पंद्रह दिनों से ब्याह का ऐसा धूम-धड़ाका मचा था कि अब, जब बरखा की बिदा करवाने उसके भाई आ पहुंचे थे, तब भी लगता था कि घर के पोर-पोर से गीतों के बोल बहे जाते हैं . . . रस-राग भरे, मीठे, व्यंगों की कुरेदन लिये, मदमाते बोल!

बलमा के भावैं ना लड्डू जलेबी,
यारन के खाय गयी कारे भटा,
गोरी तोरे नयना कारी घटा . . . .

कारी घटा,
अंधियारी घटा,
गोरी तोरे नयना कारी घटा . . .

▣

बरखा आज जायेगी . . . . चार दिनों से घर में चांदनी बिखेरे रही मेरी नयी ब्याहता . . . . सवेरे से ही मन उदास-उदास था . . . पर समाज की बात, रीत-रस्मों की जात. चबूतरे पर चुप, उकडूं एक ओर बैठा हुआ हूं. भीतर मां ने बरखा को विदा के लिए सजा-संवार कर तैयार कर दिया है और इधर धुली दरी पर बैठे हैं उसके भाई, मेरे दोनों काका—हजारीसिंह, उम्मेदसिंह. मैं हूं बड़े का बेटा. बड़े, बड़ी छोटी उमर में नहीं रहे. बड़े यानी ठाकुर सोबरनसिंह. अब घर का सारा काला-सफ़ेद हजारी और उम्मेद काका के हाथ. धरती का बंटवारा मेरे दादा कर गये थे. पर अब सारी धरती जोत रहे हैं, मेरे काका.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब से मेरे पिता नहीं रहे, तब से वही कर्ता-धर्ता हैं.

"तो सावन बाद हम गौना करायेंगे". हज़ारी काका ने बरखा के भाई यानी मेरे साले से कहा है.

हल्का-हल्का लगता है मुझे . . . सावन . . . ? सावन को तो कई दिन पड़े हैं. तब तक बरखा दूर हो जायेगी मुझसे . . ? पर मैं कैसे बोल सकता हूं. बड़े-बूढ़े मौजूद. मन मसोसकर रह जाता हूं.

और बरखा के भाई थैला उठाकर खड़े हो गये हैं. साथ चार लोग. एक ओर दबा-दुबका मैं भी. बरखा बाहर आ गयी है. साथ आयीं दो पोटलियां, मेरे काका ने उठाकर बरखा के भाई की ओर बढ़ा दी हैं, "लो, ठाकुर, सम्हालो!"

वे चल पड़ते हैं. सीने के ढलान तक बरखा ने माथे पर घूंघट खींच रखा है. एक कौंध भरा ख़्याल दबाकर घुट लेता हूं भीतर ही भीतर. थोड़ा चेहरा ही देख पाता उसका . . . पर . . . बात गयी सावन बाद तक . . .

चली गयी बरखा. काका जाने को हुए तो मां ने रुकवा लिया, "हज़ारी, लाला से कह, पांच मिलट रुकें."

वे रुक गये. भीतर घर में आ बैठे. एक ओर मैं. हज़ारी काका ने पूछा, "अब क्या बात है भौजी?"

मां एक ओर धरती पर बैठ रही. मुझे संकेत से पास बिठाया. फिर मेरे दोनों काकाओं से कहा, "भगवती मईया की किरपा से तुम्हारी छतरछाया में मलखान पल गया. उसका घर-संसार भी बस गया. अब चाहती हूं कि सब कुछ यही सम्हाले . . . इसीलिए कह रही थी—मीठे कुएं वाले दोनों खेत अब ये जोत लेगा!"

हज़ारी ने उम्मेदसिंह की ओर, और फिर दोनों ने मेरी ओर देखा. एक पल के लिए चुप हो गये. जब से मेरे पिता नहीं रहे हैं, मीठे कुएं वाले दोनों खेत दोनों काकाओं ने सम्हाले हैं. आधी फसल हर साल मेरी मां को दी है, आधी फसल खुद की मेहनत के एवज़ में रख ली है. पर अब मां चाहती है कि खेतों की पूरी फसल हम ही सम्हालें. . . भगवती ने मुझे फैलाव-सा कद-काठ ही नहीं दे दिया है, घर-गृहस्थी भी बसवा दी है. यही रीत है दुनिया की.

मां की झुर्रियों भरी निगाहें उन दोनों की ओर लगी हैं. हज़ारी के चेहरे पर दृढ़ता है. सहसा उम्मेदसिंह काका उठते हैं. कहते हैं, "तू कह तो रही है भौजी, पर अभी मलखान पर हमें भरोसा नहीं. . ."

हज़ारी बात में जोड़ लगा देते हैं, "ब्याह हो जाने से अकल आ जाती है क्या? अभी तक स्साले ने सरकारी बाग से आम चुराना तो छोड़ा नहीं, ये क्या जोतेगा खेत? थोड़े दिन और रुक जाओ." वह भी उठ जाते हैं.

"पर काका. . ." मैं कुछ कहना चाहता हूं, सहसा हज़ारी डपट देते हैं मुझे,"चुप रह! . . .बड़ों की बात में थूथरा चलाता है."

मां के चेहरे पर एक उदास, परेशान बेचैनी उभर आयी है. कई दिनों से गांव के चार लोग उससे और मुझसे कहते आये हैं—'हज़ारी और उम्मेद मीठे कुएं वाले खेत नहीं छोड़ेंगे. . . ' पर किसी बार हमने विश्वास नहीं किया. बैर कराना चाहते हैं स्साले. हरे, बौराये झाड़ नहीं सुहाते कम्बख़्तों को! चाहते हैं कि बैर की बिजली गिरे और सूख जायें. पर आज मुझे पहली बार खटका हुआ है. . . कहीं ठीक ही तो नहीं सुना है? हज़ारी और उम्मेद के मन में बेईमानी तो नहीं पनप आयी? . . .

दोनों चले गये हैं. एक निर्णय थोप कर. निर्णय, जिसके अनुसार मैं नाकारा और ग़ैर-ज़िम्मेदार हूं.

आशंका का पहला विष-बीज पड़ गया है मेरे मन में. . . फिर यह बीज पनपा है. चार मुंह, चालीस ख़बरें मिली हैं. पटवारी की कार्रवाई ने आशंका को सच में बदल दिया है. हज़ारी और उम्मेदसिंह धरती के कागज़ातों में लिखा-पढ़ी बदलवा रहे हैं.

यानी हम भूखे मर जायेंगे? . . . मरेंगे नहीं, हमें मारा जायेगा. इस बीच चार बार बरखा आकर जा चुकी. चार बार मां ने दोनों काकाओं से फिर-फिर धरती की मांग कर दी, पर व्यर्थ! . . . तनाव गहरा और गहरा होता जा रहा है . . . बात घुलते-घुलते एकदम उभर आयी है—हमें ता-ज़िंदगी अपने दोनों काकाओं का मोहताज रहना होगा. वे जो दे दें, सो उनकी कृपा. . . राजा हो गये बिल्कुल!

▣

कुछ धिक्कारें भी आती हैं गांव से—मलखान में सोबरन का लहू है कि नहीं? . . .

मां सुलगकर रह जाती है. कितनी बार मैं नहीं उखड़ा हूं! पर मां हर बार डांट-थाम लेती है. इकलौते बेटे के भय ने उसे कायर बना दिया है!

पर कायर जी पाते हैं भला?

इसलिए मैं कैसे जी पाऊंगा?

उस दिन आल्हा बांचते में पढ़ा था—

उमर कौ पट्टा ना कोई लायौ, ना कोई जीवै बरस हजार।
छतरी मारो जावै बा दिन, जा दिन याद करै करतार।

जीना-मरना, राम के हाथ. हज़ारी और उम्मेद के हाथ नहीं! और ऐसे ही एक दिन मैं भरी चौपाल हज़ारी और उम्मेद काका के सामने जा खड़ा हुआ था. . .

"मेरी धरती मुझे चाहिए, कक्का!"

हज़ारी और उम्मेद ने चौंककर देखा था मुझे. मेरी उखड़ाहट, तनाव मेरे चेहरे पर लिखा हुआ था. . .

मगर उन्होंने उस उखड़ाव-तनाव की चिंता नहीं की थी. बोले थे,"जर, जोरू और जमीन मरद सम्हालते हैं, लौंडे-लपाड़ों का काम नहीं है. तुझे जो कहा जाये, वही किया कर, बस!"

हर शब्द तेज़ाब में डुबोया हुआ. बड़ी सफ़ाई से धरती की बात उन्होंने दरकिनार कर दी, मगर उससे भी कहीं ज़्यादा सफ़ाई के साथ उन्होंने मुझे नामर्द भी कह डाला! . . . सहा नहीं जा सका था मुझ पर. उसी पल गिरहबान थाम लिया था हज़ारी का. भूल गया था कि मेरा काका है. . . पर हज़ारी आदमी भी ताकतवर, उसका साथ भी ताकतवर. परिणाम हुआ था मेरी हार. थप्पड़, जूतों से पिटकर, गालियों से नहाया हुआ मैं चला आया था. . .

और उसी रात मैंने उनके दिये अपमान का उधार चुका दिया —एक गोली! . . . कुछ चीखें. . . कुछ भयातुर चेहरे. . . खून के कुछ धब्बे! सब सन्नाटे में सहमे-डरे देखते रह गये थे थोड़ी देर के लिए. और उतने समय में मैं आ पहुंचा था बीहड़ों की आड़ में. एक ऐसी ओट, जिसे आदमी बचाव समझता है और जो ज़िंदगी सिर्फ़ कफ़न की तरह उसके जिस्म से लिपटी रह जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj

ज़िंदा आदमी का कफ़न! मुरदा कपड़े का टुकड़ा और ज़िंदा आदमी!

तब से यह कफ़न लिपटा हुआ है मेरे ऊपर. . . और अपनों-परायों के सवाल लिपटे हुए हैं. . . मां, पत्नी, बंधु-बांधवों के सवाल. . .

मलखान, तूने अच्छा नहीं किया!. . .

और कुछ लोग हैं, जो अब तक कहते रहे हैं. . .

ठाकुर, तुमने अच्छा किया!

अच्छे-बुरे के बीच फैसला कर पाने के लिए कितनी बारीक लकीर ढूंढनी होगी? ऐसी लकीरें आदमी अक्सर नहीं ढूंढ पाता.

वह लकीर मैं भी किसी बार नहीं ढूंढ पाया हूं. . . खोज मैंने हमेशा की है. हर अच्छाई के साथ, हर बुराई के साथ. मेरी खोज निरंतर जारी रही है. . . आज भी जारी है.

कभी-कभी लगता है, जैसे मैं आदमी नहीं, सिर्फ़ सवालों का एक ढेर होकर रह गया हूं. अपने लिए भी, दूसरों के लिए भी.

▣

"ठाकुर!. . ."

अंधेरे में मैं उस तरफ देखता हूं, जिधर से स्वर उठा है. बिंदा की आवाज़ है यह. बिंदा—मेरा दायां हाथ. गिरोह का और कोई आदमी बोलता तब शायद मैं एकदम सुनता भी नहीं—अपने भीतर ही गुनता रहता. कहता हूं, "क्या?"

"कुछ खा-पी लें," बिंदा का प्रस्ताव.

"हूं!" मैं कहता हूं, फिर सोचने लगा हूं कि क्या इस तरह अभी रुक जाना ठीक होगा?. . . शायद नहीं. बीच गांव से निकले हैं. बिरज से बात हुई है. और बिरज को दिखायी है राईफल. हम भले भूल जायें, वह नहीं भूलेगा. नहीं भूलेगा, इसीलिए डर है, वह पुलिस तक बात पहुंचायेगा. न पहुंचाये, गांव से गुनगुनाहट थाने जा पहुंचेगी. जितनी जल्दी हो, ज़्यादा-से-ज़्यादा बीहड़ पार कर जाने में ही कुशल. कहता हूं, "अब खाना-पीना नहीं हो पायेगा. जल्द-जल्दी बढ़े चलो!"

जवाब नहीं आता. मैं जानता हूं, जवाब नहीं आ सकता. आना भी नहीं चाहिये. ऐसे जवाब आने लगें तो मैं सरदार किस बात का? उन्हें भूख लगी होगी. पर भूख दबा लेनी होगी उन्हें. सवाल भी दबा लेना होगा. पर निवेदन आ सकता है. मुझे निवेदन सुनना अच्छा लगता है. जब-जब ऐसा होता है, मुझे लगता है कि मैं डाकू नहीं रहा. . .दानी हो गया हूं. ऐसे ही अपने-आपको सुखी कर लेने में कितना मज़ा आता है?

"ठाकुर!"

"हां." आ गया निवेदन.

"दुपहर भी ठीक-से रोटी-पानी नहीं हुआ. . ."

"जानता हूं, पर मुश्किल से पांच-सात किलोमीटर निकल पाये होंगे अपुन. . . अभी खतरा है बिंदा."

"तुम्हें बिरज से डर है ठाकुर?" बिंदा ही है, जो मुझसे ऐसे बोल पाता है. कह रहा है, "पर जमाखातिर रहो, उसमें इतना दम नहीं है."

एक पल की खामोशी के बाद कहता हूं, "तू मूरख है. बखत बड़े-बड़े नामरदों को मरद बना देता है."

बिंदा चुप हो रहा है. अंधेरा ज्यों-का त्यों है. . . हम चलते जा रहे हैं. भूख से जलती हुई अंतड़ियां और अनिश्चितता में सुलगा हुआ दिमाग़.

"ठाकुर!" बिंदा पुनः बोलता है. कुछ कहना चाहे, इसके पहले ही कुछ हिचकियां अंधेरे में उठने-गिरने लगी हैं. चौंक गया हूं मैं. . . शायद सभी चौंक गये होंगे. बिंदा कहता है, "बजरंग को हिचकियां आने लगी हैं. सभी का बुरा हाल है ठाकुर!. . . थोड़ी देर रुक जाते तो. . . ."

"अच्छा!" मैंने एक गहरी सांस ली है, "जगह देख लो."

"एकाध किलोमीटर ही होगा सुरवाया गांव. . ." बिंदा ने जवाब दिया है, "वहीं, घंटा दो घंटा रुक लेंगे. कासीराम चौधरी है ही वहां." मैं कुछ नहीं कहता. मुख्य आदेश देना भर मेरा काम है. शेष सब काम बिंदा करता है. कर लेगा.

"पर कासीराम का एक काम अटका है अपने पास" बिंदा बतलाता है, "गांव के चमारों से 'चल' गयी है उसकी. . . कितनी ही बार खबर भेज चुका है अपने पास—कुछ मदद करें!"

मैं परेशान हो उठा हूं. कासीराम हमारा आदमी है, हमारा मददगार. . . कितने आड़े मौकों पर उसने हमारी मदद की है!. . . तब हम उसकी मदद न करें—यह कैसे हो सकता है?

मगर उसने हमें जीवन-दान की मदद की है और हमसे लेगा . . .किसी का जीवन छीन लेने की मदद!.

और हम लोग ऐसे सौदे करते रहते हैं. इसलिए कासीराम मददगार नहीं, सौदागर है. और हम भी उसकी मदद कहां करेंगे, सिर्फ़ दाम देंगे उसकी कृपाओं का.

पर मैं उन चमारों को जानता भी नहीं हूं, जिनसे कासीराम की 'चल' गयी है!. . . इसके बावजूद मुझे उन्हें जानना होगा. ज़रूरत हुई तो गोली भी मार देनी होगी. एक बार फिर सवाल उग आयेगा—लकीर में बंटा सवाल!

मैंने अच्छा नहीं किया! शायद मैंने अच्छा किया!

पर मुझे इस सब पर सोचना नहीं है. . . मुझे सिर्फ़ जलते जाना है.

बिंदा बुदबुदाता है, "ठाकुर, आ गये. . . कासीराम की हवेली पर. . . . पिछवाड़े से पहुंचना ही ठीक होगा."

मैं उत्तर नहीं देता. बिंदा के पीछे-पीछे चलता जाता हूं. मैं, जो गिरोह का सरदार हूं. . . ये एक और अजीब बात है! किसी बार मैं अपने पीछे किसी को चलाता हूं, और किसी बार किसी के पीछे चलता हूं. कासीराम का मामला भी कुछ ऐसा ही रहेगा. . . कासीराम मेरे पीछे चलता आया है. मेरे कहने से, मेरी तरह, मेरे इंगितों पर.

और आज मैं कासीराम के पीछे चलूंगा. उसके कहने से. . . उसकी तरह. . . उसके इंगितों पर!

हम लोग गांव के पिछवाड़े आ पहुंचे हैं. □

. . . क्रमशः

अगले अंक में

निंदा की तेजी और दुस्साहस मलखान की स्वतंत्रता और अस्तित्व को जकड़ने लगा. . . बीहड़ों में जीते डाकुओं की दिमाग़ी कशमकश और उलझनें. . .!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अभी मैं घर नहीं लौटा हूं!"

▣ इलाचंद्र जोशी

प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकारों में पं. इलाचंद्र जोशी का नाम उन लोगों में गिना जाता है जिन्होंने उस समय कथा के एक अपरिचित-मानस से सीधा साक्षात्कार कराया. 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'संन्यासी' आदि से लेकर 'जहाज का पंछी' या 'ऋतुचक्र' तक जोशीजी ने जो कुछ कहा उसे सामान्य पाठक असामान्य-अभिरुचि से सुनता रहा है. जोशीजी ने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा है. जीवन के बहुरंगी बहुमूल्य अनुभवों के धनी हैं.

जोशीजी संभवतः अपने ढंग के अकेले रचनाकार रहे हैं. जिन्होंने अपने बाद आने वाली पीढ़ी का पूरा सम्मान अर्जित किया है. वैसे तो अज्ञेय और अश्क भी नयी पीढ़ी के पुट्ठे पर बहुत बार हाथ धरते रहे हैं--लेकिन कुछ ऐसा हुस्ने-इत्तिफ़ाक रहा कि इन दोनों ने जिस-जिस के पुट्ठे पर हाथ धरा, उसने एक दिन उलट कर पूछा ही तो--'कि तू कौन?' (और जैसा कहा गया है, उत्तर देने वाले ने कहा--'मैं ख्वामखाह! !') जोशीजी ने भी नयी पीढ़ी को उभारा! खूब उभारा और जहां बस चला उसके बारे में खूब लिखा-पढ़ा. बस उससे उलट कर नहीं कहा कि अब तू मेरे बारे में लिख और किताब छपा. जोशीजी अब भी नयी और मंझली पीढ़ी के लेखकों में उतना ही स्नेह और सम्मान पाते हैं जितना आज से पच्चीस-तीस वर्ष पहले पाते थे.

पिछले कई वर्षों से जोशीजी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हैं. जबसे उन्हें, कोई दस बरस हुए फ़ालिज का दौरा पड़ा था, तबसे अक्सर उन्हें विस्मृति घेर लेती है. आंखों में बड़ी तकलीफ़ है. मोतिया-बिंदु के कारण पढ़ने में कठिनाई होती है. लेकिन किताबें ही उनकी एकमात्र दुनिया है. उसी में वे रमते हैं. तुलसी का 'रामचरित मानस' और कालिदास बराबर पढ़ते रहते हैं. खोये-खोये से... भारी, मोटे फ्रेम के चश्मे के नीचे से झांकती हुई आंखें--कहीं सबसे बेहद जुड़े हुए...कहीं एकदम अपने में भीतर धंसते हुए...

जोशीजी से यह बातचीत दो-तीन बार में की जा सकी. वे अपने बारे में बहुत-सी बातें कहना और बताना चाहते हैं. इस भेंट में बहुत-सी बातें अधूरी हैं. उनके विस्तार में अधिक सरसता भी है और बहुत स्थलों पर सामयिक-प्रासांगिकता भी. अच्छा होता कोई संस्थान या अकादमी जोशीजी को ऐसी सुविधा और सहायता दे सकती कि वे अपनी संपूर्ण और प्रामाणिक जीवनी तत्काल लिखवा सकते.

कहीं ऐसा न हो कि हमेशा की तरह हमसे फिर देर हो जाये!

▣ केशवचंद्र वर्मा

केशव : आज का साहित्य और लेखन जैसा संदर्भहीन और निरर्थक लग रहा है--ऐसी अनुभूति आपको अपने लेखन के प्रारंभ में--या किसी दूसरी स्थिति में कभी लगी थी?

जोशीजी : संभवतः नहीं. वैसे उस समय परिस्थितियां भी इतनी 'कांप्लेक्स' (विषम) नहीं थीं. पश्चिम की नकल शुरू नहीं हुई थी. सीधे-सादे लोग थे और अपनी बात भी सीधे ढंग से करते थे. उसका प्रभाव भी पड़ता था. पत्र-पत्रिकाओं को देखने से उस समय की जागरूकता का साफ़ पता चलता था. मेरे बचपन में ही स्वामी सत्यदेव अल्मोड़े आये थे. उनके प्रयास से हिंदी का अच्छा प्रचार हुआ. अल्मोड़े में एक पुस्तकालय की स्थापना हुई. लोगों का आग्रह था कि उसमें केवल 'विशुद्ध साहित्य' की ही पुस्तकें रहें. वह पुस्तकालय इतना समृद्ध था कि हिंदी साहित्य का समग्र उत्कृष्ट लेखन वहां एक बारगी मिल सकता था. लोग उसे खूब पढ़ते थे. मैंने भी उस पुस्तकालय के ही माध्यम से खूब पढ़ा. इसी से आप साहित्य के प्रति आम पाठक का क्या रुख था, यह समझ सकते हैं. आज यह दुर्लभ है.

केशव : पहली बार रचना के क्षेत्र में कब उतरे?

जोशीजी : अल्मोड़े से ही एक पत्रिका निकलती थी—शक्ति. उसी में मेरी पहली रचना—एक कविता—छपी. यह शायद 1913 की बात है. पैंसठ बरस हुए. भाई साहब स्व. डॉ. हेमचंद्र जोशी अल्मोड़े से ही एक पत्रिका निकालते थे, उसमें एक कहानी लिखी—शीर्षक था—'एकता'. फिर 'साप्ताहिक प्रताप' में और फिर बनारस से प्रसादजी की पत्रिका 'इंदु' में, 1916 में, कहानी छपी जो खासी चर्चित हुई.

केशव : यानी इसी से आपकी साहित्यिक यात्रा आरंभ हो गयी?

जोशीजी : हां, कह सकते हैं. पढ़ ही रहा था, तभी लड़कों ने एक पत्रिका निकालने की योजना बनायी और मुझे उसका संपादक चुना. लिखता-पढ़ता रहा. सहसा पिता के देहांत से हमारे परिवार में बड़ी मुसीबत आयी. गल्ला तो घर में होता था लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में इलाचंद्र जोशी का नाम मात्र एक नाम न रह कर एक स्कूल बन गया है. दिसंबर : अंक-२ में हमने जोशीजी पर विशिष्ट सामग्री की घोषणा की थी, उसी घोषणा के तहत वह विशिष्ट सामग्री हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं.

नकद पैसों की बड़ी कमी थी. पिता के देहांत पर दाहक्रिया तक के लिए किसी महाजन से पैसे लेने पड़े थे. तब नौकरी की सूझने लगी. लेख तो मैंने बहुतेरे लिखे. लेख से दस या पंद्रह रुपये आ जाते तो घर का खर्च चलता. लेकिन यह स्थिति चलती दीख नहीं पड़ी. मेरे लेखों की चर्चा होने लगी थी और मुझे अपने ऊपर कुछ-कुछ भरोसा होने लगा था. 1929 में 'मार्डन रिव्यू' में मेरा लेख छपा तो और चर्चा हुई.

केशव : तो नौकरी का सिलसिला कहां से शुरू हुआ?

जोशीजी : लखनऊ से 'सुधा' निकलती थी. उसमें सहायक के लिए एक विज्ञापन आया. मैंने अर्ज़ी दे दी. उनके कोई प्रतिनिधि मुझे ढूंढते हुए आये और अल्मोड़े के बाज़ार में मिले थे. मुझे एक निहायत कमसिन नौजवान देखकर चौंके और बार-बार पूछते रहे, "आप ही इलाचंद्र जोशी हैं, जो लेख लिखते रहते हैं?" बहरहाल लखनऊ पहली बार गया. दुलारेलाल भार्गव जी के यहां काम शुरू किया. यहीं पर अनेक साहित्यकारों से मेरी पहली भेंट हुई. मैथिलीशरण गुप्तजी से भी यहीं मिला. 'सुधा', 'माधुरी' का झगड़ा चलता था. मैंने कितने ही लेख उस ज़माने में लिखे. कुछ अपने नाम से, कुछ छद्म नाम से. 'प्रेमचंद' वाला विवाद वहीं मैंने उठाया था.

केशव : फिर 'सुधा' पत्रिका छोड़ी क्यों?

जोशीजी : वही तमाशा हुआ. अस्सी रुपया कहकर भार्गवजी पचास देने लगे. वहां मैंने काम छोड़ दिया. इलाहाबाद आया. 'चांद' में गया. कुछ-कुछ काम भी किया. वहीं महादेवी वर्मा का नाम जाना.

फिर कुछ दिनों साहित्य-जगत् से एकदम कट ही गया. भाई साहब के साथ-साथ शाहजहांपुर के पंवाया राज में रहने गया. फिर वे बस्तर के राजा की सिफ़ारिश के लिए शिमला गये. मैं भी गया. वहां मैंने टाइप सीखा. फिर राजासाहब के साथ 1921 में नयी दिल्ली आये, जो तब बन ही रही थी. वहां 'कारोनेशन होटल' में पहली बार ठहरा था. फिर बंबई घूमने के लिए गया.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केशव : जब यह दौर समाप्त हो गया तब फिर कहां से शुरुआत हुई?

जोशीजी : फिर कलकत्ते पहुंचा. वहां 'कलकत्ता-समाचार' में साठ रुपये की नौकरी शुरू की, जो बाद में सत्तर रुपये की हो गयी. वहां रहा. लिखता रहा. शरत् चंद्र के उपन्यासों और उनके पात्रों से मैं बहुत अभिभूत था. बहुत प्रयत्न करके मैं उनसे खोज कर मिला. 'श्रीकांत' के बारे में बहुत से प्रश्न किये थे. इस भेंट के बारे में मैंने कहीं लिखा भी है. पत्रकारिता में मेरा मन काफ़ी रमा. फिर तो 'भारत', 'संगम साप्ताहिक' और 'धर्मयुग'—इस सबकी कथा तो आप सभी जानते हैं.

केशव : आज की पत्रकारिता कैसी लगती है?

जोशीजी : युग के अनुरूप ही है. जैसा वक़्त है वैसे ही पत्रकार. आज का संपादक दबा हुआ लगता है. अध्ययन की भी कमी बड़ी साफ़ दीख पड़ती है. घुमा-फिरा कर वह सिर्फ़ राजनीति में ही घुसा रहता है.

केशव : उस वक्त विवाद के मुख्य मुद्दे क्या होते थे जोशीजी?

जोशीजी : गहरे मुद्दों पर बहस उठा करती थी. सरस्वती का चलन अधिक था मेरे बचपन में. कलकतिया समाज और महावीरप्रसाद द्विवेदी की अच्छी झड़पें पढ़ने को मिलती थीं. भाषा के बदलाव के प्रश्न को लेकर 'भाषा की अनस्थिरता' जैसे बहस के मुद्दे हुआ करते थे. मैथिलीशरण और प्रसाद और प्रेमचंद—इनके बारे में भी काफ़ी कहा-सुना जाता था.

केशव : इलाहाबाद के प्रवास ने आपकी साहित्यिक यात्रा में क्या जोड़ा?

जोशीजी : बहुत कुछ. यहां आकर मैंने वास्तव में अपने को साहित्य के गढ़ में पाया. बहुतेरी प्रतिभाओं से इलाहाबाद में ही मुलाकात हुई. असली भी और तथाकथित भी. स्व. गंगाप्रसाद पांडेय मेरे मित्र थे और उनके कारण मेरे परिचय का बहुत विस्तार हुआ. 'परिमल' वाले बंधु मिले. उसमें अनेक नवयुवक लेखकों का लेखन स्तर बहुत ऊंचा था. आज 'परिमल' के तमाम साथी लेखक बहुत अच्छा लिखकर अपना स्थान बना चुके हैं. पंतजी (स्व. सुमित्रानंदन) अल्मोड़े में मुझसे कक्षा में एक साल आगे थे. यहां फिर साथ हुआ. महादेवी, निराला—सभी तो यहीं थे.

केशव : क्या लेखक को नौकरी करनी ही पड़ती है? अगर करनी ही है तो कैसी नौकरी करे?

जोशीजी : अरे भाई, इसमें चुनाव करने की छूट दे कौन रहा है? घर-गिरस्थी चलानी है, रोटी खानी है तो नौकरी करनी ही पड़ेगी. लेखन या रचना का नौकरी से ऐसा रिश्ता नहीं बनता कि एक दूसरे पर निर्भर करें. लोहार का काम करने को मिले तो वही करो. जो भी काम मिले उसे करो. रोटी कमाओ और लिखो.

केशव : क्या हिंदी प्रकाशक, लेखक को उसका समुचित मानदेय देकर एक सामान्य और सहज जीवन जीने का अवसर नहीं दे सकता? आपके अपने प्रकाशनों के आधार पर आपका क्या अनुभव है?

जोशीजी : हिंदी का प्रकाशक भारतीय मनोवृत्ति का बड़ा सटीक उदाहरण है. सम्मान से किसी को जीने देने में वह अकारण परेशान होता है. मेरे प्रकाशनों की संख्या इस समय चालीस से ऊपर है जिनमें दस तो प्रसिद्ध उपन्यास हैं, शेष कहानी-संग्रह, डायरी-लेख या निबंध संग्रह, कविता आदि की पुस्तकें हैं. ऐसे अवसर कम ही आये हैं जब मेरे बिना कहे हुए किसी प्रकाशक ने रायल्टी चुकायी हो. बेईमानी का खुला व्यापार है. उसकी साख उठ गयी है. जो दो-एक ईमानदारी से अपना काम भी करना चाहें वे इसी चक्र में फंसे हुए हैं. हिसाब में काट-छांट करते हैं. शायद ही कोई ऐसा भाग्यशाली लेखक होगा जिसे उसके प्रकाशक का कोई सहयोग मिला होगा.

केशव : आपने इतना लिखा—लेकिन क्या चीज़ लिख कर आपको सचमुच संतोष मिला?

जोशीजी : सच कहूं तो मुझे हमेशा ही जो कुछ लिखा, उसे लिखने पर संतोष ही मिला. मेरे भीतर के अहम् को ऐसा लगता था कि मैंने जो लिख दिया है वह अपनी लकीर छोड़ जायेगा. भाई, 'निज कवित्त केहि लाग न नीका.'

केशव : तो बताइए कि क्या नहीं लिख पाये?

जोशीजी : जीवनी. अपनी जीवनी. बस एकाध उपन्यास और वही अपनी जीवनी. बहुतों का पहले आगाज़ होता है फिर अंजाम. मेरा अंजाम ही पहले हो गया. मेरे बारे में तमाम धारणाएं लोगों के मन में रही हैं. मुझे अपने बारे में बहुत कुछ कहना है. बहुत कुछ बताना शेष है. बच्चन ने जैसी अपनी जीवनी लिखी है, पता नहीं मैं इतने ढंग से लिख भी पाऊंगा या नहीं. लेकिन मेरे मन में अपनी सीधी जीवनी लिख डालने की साध शेष है.

केशव : आप उस तरह की जीवनी लिखेंगे तो आपको बहुत सी ढकी-मुंदी बातों को उघारना पड़ेगा. प्रेम के मामले को लेकर आप बहुत धर्मसंकट में पड़ेंगे?

जोशीजी : कोई धर्मसंकट नहीं. जिस तरह के प्रेम की बातें लोगों को बखानते हुए आज देखता हूं. ऐसा मेरे

(शेष पृष्ठ ५७ पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

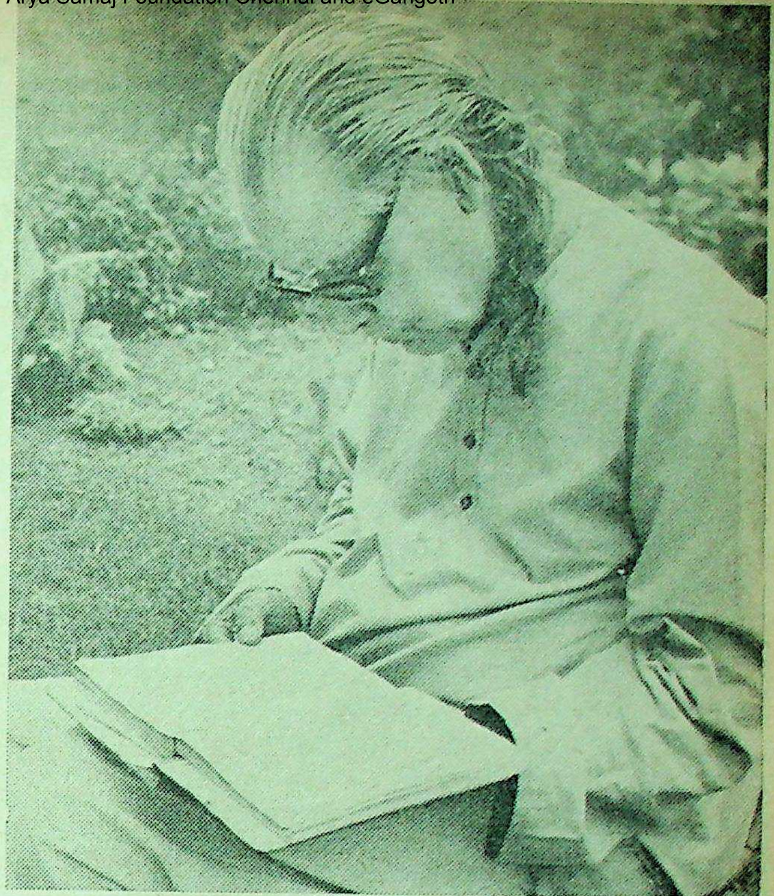

'मैं इस गरिमायुक्त स्वाभिमान के आगे समर्पित था.'

▣ रमानाथ अवस्थी

दान में ही ऐश्वर्य और प्रतिभा की पूर्णता सार्थक होती है. इसे पाने के लिए अपने-अपने ढंग से हम सभी उत्सुक रहते हैं. इस सुख या संतोष को प्राप्त करने के लिए कभी हमें किसी व्यक्ति के रूप में कुछ ऐसी उपलब्धि होती है, जो हमारे जीवन और हमारी मानसिकता के विकास के लिए आजीवन एक अंदरूनी ज्योति-शिखा की तरह प्रकाशित रहती है. मेरे लिए जोशीजी एक ऐसी ही ज्योति-शिखा की तरह हैं.

ऐश्वर्यवाही रथ के आगे

सन् 1951 या 52 में सबसे पहले जोशीजी के संपर्क में आया था, जब वे प्रयाग से प्रकाशित होने वाले यशस्वी साप्ताहिक पत्र 'संगम' के संपादक थे. उन दिनों हिंदी के समसामयिक लेखन और पत्रकारिता जगत में 'संगम' अपनी तरह का एक बेजोड़ पत्र था. 'संगम' के माध्यम से उस समय युवा रचनाकारों की एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी उभरकर देश के लेखन-क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो रही थी.

'संगम' में काम करने से पहले मैंने इंडियन प्रेस से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक पत्र 'देशदूत' में थोड़े समय काम किया था. पर वहां मुझे वह वातावरण नहीं मिला था, जो सृजन और साहित्य से जुड़ने के लिए मुझे प्रेरणा देता. मुझे याद है ऐसी मनःस्थिति के साथ 'संगम' में पहुंचकर मैंने प्रसन्नता के साथ-साथ एक तरह की घबराहट भी महसूस की थी, क्योंकि मुझे लगा था कि 'संगम' कार्यालय के बहाने मैं एक ऐसे स्थल पर पहुंचा हूं, जहां से कोई ऐसा रास्ता मिलेगा जो मुझे जिंदगी की लंबी मंजिल के किसी-न-किसी आयाम तक ले जायेगा.

जोशीजी के साथ भारतीजी (डॉ. धर्मवीर) भी काम करते थे. उस समय इलाहाबाद में निवास करने वाले विख्यात साहित्यिकों का सूर्य पूरे आकाश पर था, और 'परिमल' (साहित्यिक संस्था) के द्वारा प्रयाग की युवा पीढ़ी के रचनाकार साहित्यिकों के ऐश्वर्यवाही रथ के आगे कभी-कभी अपनी नज़रें खड़ी करके उसकी गति को भूमि के योग्य कर लेते थे. 'परिमल' के सभी सदस्य एक-से-एक बढ़कर थे, उन पर सबके बीच डॉ. भारती उस ध्रुवतारे की तरह थे, जिसके बगैर परिमल का नक्षत्र-मंडल सजता नहीं था.

मैं जोशीजी के काले बड़े टेबल के दायीं ओर एक छोटी मेज़ के साथ कुछ-कुछ कमरे के कोने से लगा हुआ बैठता था. जोशीजी की टेबल पुस्तकों, अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं और कागज़-पत्रों से पूरी-की-पूरी घिरी रहती थी. जब वे लिखते थे, तो कभी-कभी उनकी लंबी, काली-चिकनी केशराशि मेज़ पर झूल जाती थी, ऐश-ट्रे के ऊपर जलती हुई सिगरेट अगरु-धूप की तरह कमरे में लहराती रहती थी.

जोशीजी के लंबे गौरवर्ण शरीर पर लंबा रंगीन कुर्ता और पाजामा होता था. कार्यालय में जब भी आते, हाथ में एक लंबा झोला भी लटकता होता, जिसमें अधिकतर अंग्रेज़ी की तमाम नयी-पुरानी पत्रिकाएं होती थीं. कार्यालय में प्रायः वे उन्हें उलट-पलट कर देखते थे, कभी-कभी किसी विशेष लेख पर छोटे-छोटे निशान लगाकर रखते थे. मुझे स्मरण है, उन्हीं निशान लगे अंशों की सहायता से दो-एक बार मैंने भी 'संगम' के लिए छोटे-छोटे लेखादि तैयार करके जोशीजी को दिये थे, पर एक संपादक की हैसियत से उन लेखों पर जब उनकी नज़र पड़ती थी, तो प्रायः वे बाद में कुछ बदले हुए मिलते थे. मुझे तभी समझाते हुए उन्होंने कहा था कि लिखते समय यह ध्यान ज़रूर होना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए कि वाक्य अधिक बड़े न हों, न जरूरत से ज्यादा शब्द ही प्रयोग किये जायें, इससे पाठकों को सुविधा होती है. आज भी मेरे मन में यह बात बराबर बनी रहती है.

उन दिनों तक मैंने तीस-चालीस के लगभग गीत लिख लिये थे, इलाहाबाद और उसके आस-पास जाना भी गया था, पर जोशीजी ने कभी मेरे इस रूप की तरफ़ ध्यान नहीं दिया था. एक दिन उन्होंने कुछ अस्फुट शब्दों में कार्यालय में ही कहा कि मैं जोशीजी को अपने से दो-चार गीत दूं. मैं संकोचवश कई दिनों तक उन्हें गीत देने से अपने भीतर कतराता रहा. इस बार उन्होंने कहा था—

"अवस्थी जी, मैंने आपसे दो-चार गीत मांगे थे मित्र, मुझे देने में तो कोई हर्ज नहीं है, आप मुझे कम-से-कम पढ़ने के लिए तो कृपा करदें." मैं मन-ही-मन जाने कैसा हो गया था. दूसरे ही दिन मैंने बड़े आदर के साथ जोशीजी को अपने गीत दिये. जहां तक याद है उनमें से दो गीत उन्हें अच्छे लगे थे. मुझे बुलाकर उन्होंने कहा था कि ये गीत आप नीचे कंपोजिंग के लिए भिजवा दें, आगे कभी 'संगम' में दे दीजियेगा. मेरे लिए यह अवसर बड़ा उत्साहजनक था, क्योंकि मैं देखता था, 'संगम' से प्रायः हिंदी के बड़े-बड़े कवियों की रचनाएं भी साभार वापस लौटती थीं.

साधारण : असाधारण

एक दिन 'संगम' कार्यालय में दोपहर के कुछ ही पहले पंतजी (श्री सुमित्रानंदनजी) के साथ सेठ गोविंददासजी पधारे. जोशीजी, पंतजी का बहुत आदर करते थे, यह मुझे मालूम था. उन्हीं दिनों सेठजी का एक वृहत्काय उपन्यास 'इंदुमती' प्रकाशित हुआ था. सेठजी की हार्दिक इच्छा थी कि इस उपन्यास के संबंध में 'संगम' में जोशीजी ही कुछ लिखें. सेठजी उस समय पंतजी को जोशीजी के पास यही कहलाने लाये थे. पंतजी ने बड़े स्नेहपूर्वक जोशीजी से कहा था, "जोशीजी, आपको 'इंदुमती' के बारे में लिखना ही है, सेठजी की इच्छा है कि मैं भी आपसे निवेदन करूं." पंतजी की बात सुनकर जोशीजी एक बार तो पूरी तरह संकोच से भर गये, पर स्थिति ऐसी थी कि उन्हें कोई-न-कोई निर्णयात्मक उत्तर भी देना था. जोशीजी, पंतजी को अत्यंत विनम्रभाव से उत्तर देते हुए बोले थे, "पंतजी, आपको इसके लिए कष्ट करना पड़ा मैं बहुत लज्जित हूं, मैं इस उपन्यास को पढ़ूंगा, और अगर मुझे लगेगा कि लिखना चाहिए तो अवश्य लिखूंगा, अभी कुछ भी वचन न देने के लिए क्षमा चाहता हूं." पंतजी ने मुस्कराते हुए जोशीजी की बात स्वीकार की. बाद में जोशीजी ने 'इंदुमती' पर स्वयं कुछ नहीं लिखा था, पर 'संगम' में किसी और की लिखी टिप्पणी ज़रूर प्रकाशित हुई थी. इस घटना ने मेरे युवा-मानस पर जोशीजी के स्वाभिमान को अंकित किया था.

कभी किसी से सुना था कि बड़ा आदमी हमेशा बड़ा ही होता है, यह बात मैंने जोशीजी के बारे में पूरी तरह अनुभव की. एक दिन सायंकाल उन्हें किसी को तुरंत एक पत्र लिखना पड़ा, उसे पोस्ट करने के लिए उनके पास टिकट नहीं थे, मुझसे बोले कि आपके पास टिकट हों तो दें. कुछ रचनाकार अपनी रचनाओं के साथ टिकट रखकर भेजते थे, ताकि उन्हें संपादक का निर्णय सूचित किया जा सके. मैंने उन्हीं टिकटों से एक टिकट निकालकर जोशीजी को दिया. दूसरे दिन जब वे कार्यालय आये तो कुर्सी पर बैठने से पहले ही उन्होंने मुझे एक टिकट देते हुए कहा था, "लीजिए अवस्थीजी, धन्यवाद." मैं कुछ क्षण उन्हें देखकर देर तक सोचता रहा था कि उन्होंने एक साधारण घटना को मेरे लिए कितना असाधारण कर दिया था.

सन् 55 में मैं अपने मन के विरुद्ध जीवन की किसी विशेष स्थितिवश इलाहाबाद छोड़कर दिल्ली आ गया था. थोड़े समय बाद पता चला कि जोशीजी ने प्रोड्यूसर के रूप में आकाशवाणी के इंदौर केंद्र पर अपना कार्यभार संभाला है. मुझे लगा था कि आकाशवाणी के बहाने अब कभी-न-कभी जोशीजी के दर्शन मुझे दिल्ली में प्राप्त होंगे. हुआ भी वही, संभवतः दो-तीन वर्ष बाद जोशीजी आकाशवाणी इंदौर से स्थानांतरित होकर आकाशवाणी के दिल्ली केंद्र पर आ गये. दिल्ली में उन्हें रहने के लिए साउथ ऐवन्यू में फ्लैट मिला. मैं तब अकेला था, मुझे जोशीजी के साथ ही रहने का सौभाग्य मिला. उन दिनों दिल्ली रेडियो पर जोशीजी के अतिरिक्त कुछ-एक और साहित्यकार भी काम कर रहे थे. हिंदी कार्यक्रमों के लिए श्री रामचंद्र टंडन को इलाहाबाद बुलाकर महानिदेशालय में 'डिप्टी चीफ़ प्रोड्यूसर' के पद पर नियुक्त किया गया था.

एक व्यक्ति : दो रूप

पहले प्रतिवर्ष आकाशवाणी 'साहित्य समारोह' के नाम से एक वार्षिक आयोजन करती थी, जिसमें लेखन की किसी विशेष विधा को लक्ष्य बनाकर भारत की विभिन्न भाषाओं के आमंत्रित विद्वान अपने पांच मिनट के संक्षिप्त लिखित वक्तव्य में उस विधा का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते थे. जोशीजी के दिल्ली रहते-रहते एक साहित्य-समारोह हुआ, जिसका स्वीकृत विषय 'कहानी' था.

लगभग एक सप्ताह इंदौर में रहकर जोशीजी सपरिवार दिल्ली लौटे. आते ही मुझसे साहित्य-समारोह के बारे में बात करते हुए उन्होंने जानना चाहा था कि इस बार समारोह में हिंदी-कहानी के बारे में मूल वक्तव्य प्रस्तुत करने के लिए किसे निमंत्रित किया गया है. जिस साहित्यकार को इस काम के लिए चुना गया था, वे एक कवि और समालोचक के रूप में तो मान्य थे, पर कहानी के लेखन या इस विधा जैसी रचना से वे सीधे जुड़े हुए नहीं थे. जोशीजी ने एक गंभीर रचनाकार और एक ईमानदार रेडियो प्रोड्यूसर के रूप में दूसरे दिन श्री रामचंद्र टंडन से कहा था कि अमुक साहित्यकार तो वैसे मेरे अत्यंत आत्मीय हैं, पर कथा-साहित्य पर विषय प्रवर्तन के लिए यह नाम उचित नहीं लगता. टंडनजी ने जोशीजी को बताया था कि इस बारे में तो महानिदेशक द्वारा भी निर्णय ले लिया गया है, अब कुछ होना संभव नहीं. यह सुनकर जोशीजी ने टंडनजी से कहा था कि "यह तो ठीक है, पर हम लोग आकाशवाणी में किये जानेवाले साहित्यिक कार्यक्रमों के लिए विशेषज्ञ के रूप में हैं, आप उचित समझें तो मैं महानिदेशक महोदय को अपनी बात बता दूं, अभी भी समय है ताकि वे भी इस पर एक बार पुनः विचार कर लें". टंडनजी से बात करके जोशीजी ने आकाशवाणी के तत्कालीन महानिदेशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और एक प्रख्यात नाटककार श्री जगदीशचंद्र माथुर को टेलीफोन मिलाया. जोशीजी महानिदेशक के निजी सहायक से बोले कि "मैं माथुर साहब से कुछ आवश्यक बात करना चाहता हूं," थोड़ी ही देर में निजी सहायक ने उत्तर दिया, "माथुर जी ने कहा है कि अभी वे किन्हीं आगंतुकों के साथ व्यस्त हैं. आप एक घंटे बाद पुनः टेलीफोन कर लें." इस अवसर पर मैं जोशीजी के कमरे में ही बैठा था. जोशीजी के मुखमंडल पर हलकी-सी गंभीरता थी, मुझे कुछ पता नहीं था कि इसका कारण क्या है? मैंने पूछा तो जोशीजी ने मुझे कुछ न बताते हुए, केवल इतना ही कहा था कि "कोई बात नहीं. बहुत आनंद है अवस्थीजी." उनके स्वर में मैंने कहीं कुछ चोट अनुभव की थी. थोड़ी देर बाद उनसे आज्ञा लेकर मैं उनके कमरे से उठकर बाहर आ गया.

'संगम' कार्यकाल में जोशीजी के पास श्री माथुर के बड़े सम्मानसूचक पत्र आते थे, कभी-कभी वे 'संगम' में प्रकाशित होने के लिए कुछ रचनाएं भी भेजते थे. यह सब जानते हुए मेरे मन में यह विचार तो आ ही नहीं सकता था कि माथुरजी से जोशीजी कभी रुष्ट होंगे, पर बात इसके ठीक उल्टी थी. रात को भोजन करके जोशीजी से अक्सर मैं कुछ पूछता और उनसे सुनकर बहुत कुछ सीखता भी था.

और दिनों की अपेक्षा उस दिन जोशीजी रात के भोजन के बाद हुक्का पीते हुए कुछ ज्यादा खामोश थे, मैंने कहा, "जोशीजी, आज तो साहित्य-समारोह के बारे में महानिदेशक से आपकी बात नहीं हो पायी." मेरा इतना कहना था कि जोशीजी मुझे अपनी पूरी नज़रों से देखते और हल्के अट्टहास की मुद्रा में बोले थे, "अवस्थीजी, आज तो आनंद आ गया, खैर छोड़िए, मैं तो कल ही मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से इस बार साहित्य-समारोह में शामिल होऊंगा."

मैं कुछ समझा तो, पर बात को और अधिक खोलने के लिए मैंने फिर कहा, "जोशीजी, क्षमा करें मैं समझा नहीं कल मुक्त होने की बात को." इस बार जोशीजी बड़े मर्माहत लेकिन पूरे स्वाभिमानी स्वर में बोले, "बंधु, अब रेडियो में रहकर क्या पाना है? आज तो वह मिला जो जीते जी मरण है. रेडियो में आने के पहले माथुरजी मुझे बड़े प्रेमपूर्ण पत्रादि लिखते थे. मैं सोचता था, एक लेखक इतने महत्त्वपूर्ण पद पर हैं, शायद हम लोग आकाशवाणी जैसे सशक्त माध्यम से कुछ महत्त्वपूर्ण काम कर सकें, पर आज तो आनंद आ गया, जब टेलीफोन पर माथुरजी ने स्वयं बात न करके अपने निजी सहायक से कहला दिया कि वे व्यस्त हैं. अगर मैं रेडियो में न आता तो उनका यह रूप कैसे समझता. इससे बड़ा अपमान और क्या होगा? वह स्वयं ही फोन से अपनी व्यस्तता बता सकते थे, पर वह तो अब पूरे महानिदेशक हैं. मैं कल ही त्यागपत्र देकर तुरंत मुक्त हो जाऊंगा." यह सुनकर मैं स्वयं ही बहुत दुखी हो गया.

दूसरे दिन जोशीजी ने चुपचाप अपना त्यागपत्र भिजवा दिया. श्री टंडनजी भी साउथ ऐवन्यू में ही रहते थे. उन्हें दिन में जोशीजी के त्यागपत्र के बारे में पता चल गया था. शाम के लगभग सात बजे होंगे, जोशीजी के साथ बरामदे में बैठा मैं चाय पी रहा था, तभी कॉलबेल बजी. मैंने दरवाज़ा खोला, सामने लखनऊ वाला सफेद चुन्नटदार कुरता और ढीले पाजामे के साथ पावों में कामदार नागरा पहने श्री टंडनजी खड़े थे. मैंने उन्हें आदरपूर्वक भीतर आने का आग्रह किया. जोशीजी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ टंडनजी का ज़ोरदार स्वागत किया. त्यागपत्र देकर जोशीजी पूरे दिन बेहद खुश थे. मैंने टंडनजी को चाय का प्याला दिया, टंडनजी ने थोड़े-थोड़े अधिकारी और दयालु स्वर में जोशीजी से कहा, "जोशीजी, आपने तो गजब कर दिया, आखिर आप त्यागपत्र देने से पहले हम लोगों को भी कुछ बताते. मैं तो परेशान हो गया, यह आपने ठीक नहीं किया." जोशीजी सिगरेट का लंबा कश खींचकर पहले कुछ क्षण मुस्कराये, फिर टंडनजी को उत्तर देते हुए बोले, "मित्र, आपकी बड़ी कृपा है. इलाचंद्र जोशी को तो लोग आजीवन आपकी ही तरह समझते रहे हैं, पर टंडनजी बात ऐसी नहीं है. आप क्या सोचते हैं, कि क्या जगदीशचंद्र माथुर को ऐसा ही महान होना चाहिए कि वह फोन पर मुझे स्वयं उत्तर न देकर निजी सहायक के माध्यम से अपनी व्यस्तता का आभास दें. टंडनजी, इससे बड़ा अपमान क्या होता है. अतः बंधु, मैं तो आपसे फिलहाल इतना आग्रह करूंगा, कि आप तो यहां डटे रहें, आप आकाशवाणी के चक्कर के लिए अत्यंत ही योग्य व्यक्ति हैं. मेरा क्या है? मैं तो आज भी वही हूं, जो कलकत्ते के फुटपाथों पर आवारा घूमता हुआ आनंद कर रहा था. आपकी बड़ी कृपा, आपने मेरे लिए इतनी चिंता की. अच्छा धन्यवाद."

टंडनजी कुछ ही क्षणों में चले गये, पर मैं जोशीजी के सहज व्यक्तित्व के भीतर वाले इस गरिमायुक्त स्वाभिमान के आगे समर्पित था. आज जब यह सब याद आता है, तो मन-ही-मन सोचता हूं, जाने अब कहां हैं ऐसे लोग!

कुमारी बनाम श्रीमती

आकाशवाणी के दिनों की एक और घटना, जिससे पता चलता है कि जोशीजी के मन में नारी के प्रति कितना सम्मान है. दिल्ली आकाशवाणी के छात्रीय कार्यक्रम में स्वर्गीया रजनी पनिकर के साथ एक आधुनिकनुमा महिला काम करती थीं, लोगों से मिलने-जुलने में वे अत्यंत मधुर और मुक्त थीं. आकाशवाणी के अधिकारियों के अतिरिक्त उनकी पहुंच कुछ तत्कालीन नेताओं तक भी थी, इसलिए वे कार्यालय में ज़रूरत से कुछ अधिक ही निडर और काम न करने वाली थीं. उन्होंने एक दिन मुझसे बड़ी आत्मीयता से कहा कि मैं उन्हें जोशीजी से मिलाऊं. उस दिन तो नहीं, पर दूसरे दिन मैं उन्हें जोशीजी के कमरे में ले गया और जोशीजी से उनका कार्यालयी परिचय देकर उन्हें मिला दिया. नमस्कार के पश्चात, उन्होंने जोशीजी से कहा कि उन्होंने उनके करीब-करीब सभी उपन्यास पढ़े हैं. जोशीजी ने उनसे सहज ही पूछा कि उन्हें उनका कौन-सा उपन्यास सबसे अधिक रुचिकर लगा. उत्तर में उन्होंने कहा था कि उन्हें 'संन्यासी' सबसे अच्छा लगा. जोशीजी ने एक बार उनसे फिर पूछा, "अच्छा तो उस उपन्यास में आपको किस चरित्र ने अधिक प्रभावित किया?"..

वे बेचारी अब बिल्कुल चुप थीं. जोशीजी ने उनके बात करने के हाव-भाव से शायद पहले ही समझ लिया था कि वे बिना कुछ पढ़े ही जोशीजी पर उनकी एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठिका होने का रूपक रच रही हैं. एक गंभीर चिंतक होने के नाते जोशीजी ने बात को यहीं समाप्त कर दिया, पर वे फिर बोलीं, "आप मुझे पढ़ने के लिए अपनी कोई पुस्तक दें." उन्हीं दिनों जोशी जी का एक कहानी संग्रह प्रकाशित होकर आया था, जिसकी कुछ प्रतियां प्रकाशक ने उन्हें भेजी थीं. मेज़ के ड्रार में से एक पुस्तक निकालकर उन्होंने उन्हें दी.

उन्होंने आग्रह किया कि पुस्तक पर जोशीजी अपने हस्ताक्षर करें. आग्रह मानते हुए जोशीजी ने उनसे कहा, "क्षमा कीजियेगा, आप अपने नाम के साथ क्या लिखती हैं, कुमारी अथवा श्रीमती?" उन्होंने आधुनिक लगने वाली शैली में थोड़ी शहीदी मुस्कान के साथ उत्तर दिया, "जोशीजी, कोई हर्ज नहीं, आप चाहे कुमारी लिखें, चाहे श्रीमती, सब ठीक है." जोशीजी किताब पर कलम रखे बड़ी अनोखी शैली में मुस्कराये, बोले कुछ नहीं. लेकिन मेरी हालत बड़ी खराब थी. मैं सोच रहा था, इस महा-योगिनी के चक्कर में, पता नहीं जोशीजी मेरे बारे में क्या सोचें. पर अंत में जोशी जी ने पुस्तक में लिखा, 'बहन.... अमुक को'. जो महिला, कुमारी और श्रीमती जैसे दो अर्थों में भेदहीन थी, उसे आप सहज ही समझ सकते हैं, पर जोशीजी ने उसे भी बहन ही संबोधित किया था.

जो लिखते बना लिखा

बात 1968 की है. मुझे अपने निवास-स्थान पटौडी हाउस में एक रात तीन महारथियों के आतिथ्य का सौभाग्य मिला था. वर्माजी (भगवतीबाबू), नागरजी (अमृतलालजी) और जोशीजी. सामने वाले बहुत छोटे-से कमरे में किसी तरह तीन विस्तर लग गये थे. रात्रि-भोजन के बाद कुछ बातें छिड़ीं. वर्माजी बात शुरू करते हुए बोले, "मैं तो जीविका के लिए लिखता हूं, इस बारे में मैं स्पष्ट हूं, और साहित्य का पता तो चलता है कि लोग उसे कितना पढ़ते हैं. पुस्तकों से जितनी रायल्टी प्राप्त होती है, उससे अंदाज होता है कि वे कितनी संख्या में बिकती हैं." वर्माजी सिद्धांत रूप में ज़ोर दे रहे थे कि अधिकाधिक पुस्तकें बिकना ही लेखक की सफलता है.

नागरजी, वर्माजी से सहमति प्रकट करते हुए बोले, "भगवती बाबू, औरों का पता नहीं, आप तो हमारे नेता हैं, आप बिल्कुल ठीक कहते हैं," वर्माजी ने अपनी बात को आगे बढ़ाया और बोले, "जोशीजी आपको याद होगा, लखनऊ में मैं आपसे बराबर कहता था कि कुछ कर-कराकर वहां ज़मीन लें और मकान बना लें, पर आपने ध्यान ही नहीं दिया."

इस समय तक जोशीजी निस्संग भाव से सिगरेट पी रहे थे, जब वर्माजी ने उन्हीं से कुछ कहा तो जोशीजी ने कहा, "मित्र बात तो आप ठीक ही कह रहे हैं, पर मैं तो हमेशा बस ऐसे ही रहा, जो करते बना किया, जो लिखते बना लिखा. अब मैं क्या कहूं कि क्या होगा, पुस्तकों का हाल भी जो है, ठीक ही है."

अब वर्माजी थोड़ा ऊंचे स्वर में बोले, "देखिए जोशीजी, यह तो कुछ पलायनवादी मनोवृत्ति है. ठीक है, पर पाठकों के लिए हमें मज़े में किस्सा-कहानी लिखनी चाहिए. मैं आपको कहता हूं कि मेरा अमुक उपन्यास इतना क्यों बिका, बाकी आदर्श-वादर्श भी ठीक ही है." इस बार जोशीजी अपने चश्मे को उतारते हुए वर्माजी की ओर देखकर बोले, "वर्माजी, क्षमा कीजियेगा, लेखक पुस्तकों से अधिक अपने पाठकों और समाज के भीतरी विकास के लिए कहीं अधिक उत्तरदायी है. आप तो एक जमे हुए लेखक हैं, आपसे ज़्यादा क्या कहूं, पर माफ़ कीजियेगा, आपके अनुसार अगर किताबें अधिक बिकना ही लेखक होने की सफलता है, तो फिर कुशवाहाकांत हम सबसे आगे है." वर्माजी यह सुनकर कुछ कहने को तैयार हुए, तब तक नागर जी अपनी रसभीनी शैली से बात के क्रम को कोई और मोड़ देकर हंसने लगे.

इन तीन महारथियों की इस रात्रि-वार्ता के मात्र दो श्रोता थे, एक मैं और दूसरी मेरी पत्नी. किसी तरह जब यह बात रुकी तो हम दोनों ने महसूस किया था कि आज तो इस छोटे घर में हमें कुछ बड़े और कुछ कड़े विचार सुनने को मिले. वह रात हमारे लिए एक बड़ी रात है.

एक दिन कार्यालय में एक मित्र से मेरी कुछ कड़ुवी बात हो गयी थी. मैं मन ही मन बहुत क्रोधित था. जोशीजी के साथ रात का खाना खाकर, बाद में बातों-बातों में मैंने उनको बताया कि आज अमुक के साथ यह हुआ, मेरे बात करने के ढंग में कुछ क्रोध भी था. उस रात जोशीजी ने मुझे बड़े प्यार से समझाकर एक सीख दी. जोशीजी ने कहा, "देखिए अवस्थीजी, अभी आपके सामने जीवन की बहुत बड़ी यात्रा है. मेरी एक बात आप कहीं मन के किसी कोने में डाल लें. वैसे तो लोग मुझे जाने कैसा सोचते हैं, हो सकता है, आप भी सोचते हों. यह जोशीजी भी विचित्र हैं, पर मित्र, मैंने अपने ढंग से जीवन भर केवल आदमी का ही आनंद लिया है, खैर छोड़िए इस बात को, मैं आपसे कहता हूं, कि आपको किस सीमा तक सहना चाहिए, वर्ना मनुष्य आपकी समझ में कभी आयेगा ही नहीं. अब सुनिए ध्यान से, मान लीजिए एक मनुष्य और एक कुत्ता दोनों में प्राणलेवा भूख है. एक अवसर पर उन दोनों के बीच भोजन आ जाता है. यही क्षण मनुष्य की पहचान का है. इस स्थिति में भी मनुष्य बने रहने का धर्म निभाना है, यानी मनुष्य को चाहिए कि वह पहले कुत्ते को अपना पेट भरने दे; तभी उसको श्वान-वृत्ति की पहचान होगी, वर्ना वह कुत्ते के संस्कारों से ऊपर नहीं जायेगा. इसलिए आपकी अपनी सहन-शक्ति उस सीमा तक होनी चाहिए, जहां पहुंचकर आप लोगों को बिना किसी खास परेशानी के पहचानें. पहचानकर उन्हें सहने का मज़ा ही कुछ और है." —जोशीजी की यह सीख अब तो शायद मेरे संस्कार से जुड़ चुकी है.

मेरी स्मृति और विचारों में जोशीजी के अनगिनत चित्र हैं. इलाहाबाद में एक रात मुझसे उन्होंने कुछ कहते हुए कहा था कि आपसे मन की बहुतेरी बातें करता हूं, पर इनमें से कुछ मेरे जीवन-काल में नहीं कहियेगा. मैं अपने को बहुत सौभाग्यवान मानता हूं कि मैं उनकी किसी इच्छा के योग्य हो सका. मैं तो पूरी तरह मानता हूं कि जोशीजी जैसा ऋषिमन लेखक और विचारक मुझे न मिलता तो मुझे अपने जीवन के अंधेरों से आंशिक मुक्ति भी नहीं मिलती. उनसे मुझे जो कुछ मिला, उसी ने मुझे जीवन के किसी दैन्य के आगे गिरने नहीं दिया. उनके चरणों में मैं अपनी पूरी निष्ठा के साथ समर्पित हो सकूं, अभी तो केवल इतना ही. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इलाचंद्र जोशी का पत्र राजेंद्र यादव के नाम

'शरत् ने ग़लत मनोवैज्ञानिक रास्ता पकड़ा !'

▣ इलाचंद्र जोशी

प्रिय नंदन,

जैसा तुम चाहते थे, श्री इलाचंद्र जोशी का पत्र भेज रहा हूं. तुम इसे जरूर प्रकाशित करो. 8-7-48 को लिखे इस पत्र और आज के बीच तीस साल गुज़र गये हैं. तब मैं मुश्किल से 19-20 वर्ष का रहा होऊंगा. मैंने खुद इस पत्र को दसियों साल बाद पढ़ा होगा. बहुत प्रेरणाप्रद लगा. खुद क्या लिखा था, यह याद नहीं है. उन दिनों उनके सारे उपन्यास पढ़े थे और 'निर्वासित' को पढ़कर लगा कि उसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के संवेदनात्मक स्वरूप में बहुत अंतर है. जैसे दो अलग धरातलों पर लिखी गयी चीज़ें हैं. मुझे लगा, या तो समय का बहुत अंतराल है या फिर पूरे कथानक पर पुनर्विचार किया गया है. लगता है उसकी नायिका या अन्य पात्रों पर शरच्चंद्र के प्रभाव का भी मैंने आरोप लगाया था.

लेकिन इस पत्र से दो बातों की तरफ आज के लेखक-पाठक का ध्यान दिलाना चाहता हूं—एक तो यह कि जोशीजी उस समय 'संगम' साप्ताहिक के संपादक थे. मेरी 'धमकी' कहानी वहां विचारार्थ पड़ी थी और मैंने उनकी लेखकीय क्षमता या मौलिकता में शंका उठाते हुए पत्र लिखा था. है तुम्हारे आज के किसी लेखक-संपादक में यह दम-खम (इंटेग्रिटी) कि बिना उसे महान-श्रेष्ठतम, परम प्रतिभावान इत्यादि-इत्यादि माने कोई अपनी रचना उसकी पत्रिका में छपा ले? बल्कि आज तो हर लेखक को अपने पत्रों, लेखों, परिचर्चाओं में तरह-तरह से लेखक-संपादक महोदय की रचनाओं या व्यक्तिगत उपलब्धियों की चर्चा करके उसको 'महानता' में उसे खुद विश्वास दिलाना पड़ता है—तब कहीं जाकर रचना प्रकाशित हो पाती है. सिर्फ चमचा बनने और बनाने वाले आज के लेखक-संपादकों की पीढ़ी से कितनी अलग थी वह पीढ़ी!

दूसरी बात : एक नये लेखक को जोशीजी ने किस धैर्य और झुंझलाहट भरी आत्मीयता के साथ (हालांकि आत्मश्लाघा की हद तक आत्मविश्वास पूर्वक) अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है. शायद हम लोग नहीं कर पाते.

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उन दिनों जोशीजी ने अपने प्रचंड विद्वत्तापूर्ण लेखों और गहन अध्ययनशील नये दृष्टिकोण से हिंदी में आतंकपूर्ण तहलका मचाया हुआ था. अगर मैं कहूं कि अध्ययन और लेखन के प्रति उनकी आस्था ने ही हम जैसों को प्रोत्साहित किया तो ग़लत नहीं होगा.

जोशीजी की सृजन सक्रिय दीर्घायु की कामना उन तक पहुंचा सकोगे?

सस्नेह,
राजेंद्र यादव.

355, कर्नलगंज,
इलाहाबाद
8-7-48

प्रियवर,

आपका पत्र मिला. इसके पहले भी आपका एक पत्र मिला था और संभवतः उसके भी पहले एक और. जहां तक मुझे याद है, मेरे 'निर्वासित' के संबंध में आपने पहले भी कुछ इसी तरह के प्रश्न किये थे, जो मुझे बड़े विचित्र लगे थे. मैंने उन्हें सर्वथा उपेक्षणीय समझकर टाल दिया था और मैं उन्हें भूल भी गया था. पर आपने फिर दो-एक बार उनकी याद भी दिलायी और अब कार्ड में उन्हें फिर दुहराया है. इसलिए न चाहने पर भी मैं उत्तर देने को बाध्य हूं. क्योंकि इस बार भी मैं टाल जाऊं तो संभवतः फिर एक और पत्र द्वारा आप उन्हीं प्रश्नों को दुहरायें.

मेरे पास अक्सर विभिन्न नवयुवक लेखकों के पत्र आते रहते हैं जिनमें आप ही की तरह मेरी विविध औपन्यासिक रचनाओं के संबंध में विचित्र-विचित्र प्रश्न पूछे जाते हैं. मैं उनका उत्तर इसलिए नहीं देता कि एक तो समय व्यर्थ नष्ट होता है, तिस पर यदि प्रश्नकर्त्ताओं की निपट अज्ञता की ओर उनका ध्यान दिखलाया जाये तो वे स्वभावतः असंतुष्ट हो उठते हैं. बात सीधी-सी यह है कि हमारे नवयुवकगण अनुभूतिशील तो अधिक होते हैं, पर अनुभवशील तथा अध्ययनशील नहीं होते. अपने अत्यंत स्वल्प ज्ञान से वे इस कदर फूल उठते हैं कि फिर किसी दूसरे के व्यापक तथा गहन ज्ञान को पचा सकने अथवा धारण कर सकने की शक्ति ही उनमें नहीं रह जाती. तिस पर तुर्रा यह कि यदि कोई उनकी अज्ञता की ओर निर्देश करे तो वे बुरी तरह तिलमिला उठते हैं. पर आपके पत्रों से मुझे यह आभास मिलता है कि आपने जो प्रश्न पूछे हैं, वे किसी भी दांभिकता-वश नहीं, बल्कि सरल जिज्ञासु भाव से. इसलिए आपके प्रश्नों का उत्तर देना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है. मैं आशा करता हूं मेरे उत्तरों को भी (चाहे वे प्रकट में कैसे ही कड़े क्यों न हों) आप सरल भाव से, आत्मीयतापूर्वक ग्रहण करेंगे.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपके पहले प्रश्न के उत्तर में मैं यह सूचित करना चाहता हूं कि 'निर्वासित', 'सरस्वती' में धारावाहिक रूप से दो वर्ष तक निकला था, पर बीच में मैं बीमार पड़ गया था, इसलिए 'सरस्वती' वालों ने उसे अधूरे में समाप्त कर दिया, शेषांश मैंने बाद में लिखकर पूरा किया. पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि बाद में लिखने के कारण मैंने प्लाट ही बदल दिया. पूरे उपन्यास का प्लाट मैंने आरंभ में ही तैयार कर लिया था. उपन्यास के 'निर्वासित' नाम से ही इस बात का पता लग जाना चाहिए, उपन्यास के नायक महीप के निर्वासन का प्रकरण उपन्यास के अंत में आता है. पर उसी अंतिम घटना के आधार पर उपन्यास का नामकरण पहले ही किया जा चुका था. यह ठीक है कि प्लाट की प्रारंभिक कल्पना तथा उपन्यास की समाप्ति के बीच समय का काफी व्यवधान रहा है, जिसके फलस्वरूप एक-आध टैक्नीकल विषय में कुछ परिवर्तन करना पड़ा है, पर मूल दृष्टिकोण में तथा प्रधान टैकनीक में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है.

शारदा देवी के संबंध में आपने जो प्रश्न किया है वह इतना अधिक अज्ञतापूर्ण है कि उतने ही से स्पष्ट हो जाता है कि आपने न तो विश्व-उपन्यास साहित्य का कोई विशेष अध्ययन किया है, न शरत् के उपन्यासों पर कोई गंभीर विवेचना कर सकने का अवकाश आपको प्राप्त हुआ है, न मेरे ही सब उपन्यास पढ़कर मेरे दृष्टिकोण तथा मेरी टैकनीक से आप परिचित हैं और न आधुनिकतम उपन्यास के नये संदेश के संबंध में प्रकाश डालने वाले मेरे दर्जनों निबंधों का ही अध्ययन करने की सुविधा आपको प्राप्त हुई है. जीवन और जगत के संबंध में शरत् के और मेरे दृष्टिकोणों में मूलगत अंतर है—ज़मीन और आसमान का. शरत् ने अपने दुर्बल पात्रों को भी महनीयता प्रदान करके ग़लत मनोवैज्ञानिक रास्ता पकड़ा है जबकि मेरे अपेक्षाकृत सबल पात्रों में भी तीव्र मनोविश्लेषण के प्रकाश में दुर्बलताएं उभर-उभर आती हैं. शरत् के मनोविज्ञान का स्तर इतना नीचा है कि वह आज के युग के योजनों आगे बढ़े हुए अत्यंत गहन, जटिल और व्यापक मनोविज्ञान के ककहरे की स्थिति को भी नहीं पहुंच पाता और वह प्रारंभिक शैशवीय मनोविज्ञान, साधारण से भाव-विज्ञान (साइंस ऑव इमोशंस) की श्रेणी से आगे नहीं बढ़ा हुआ है. अंतर तथा बाह्य जगतों की सघन अंधकारमय तथा ज्वलंत प्रकाशमय परिस्थितियों के जिन विराट भूकंपीय संघर्षणों का परिचय आधुनिकतम उपन्यासों के जटिलतम प्रकृति पात्रों के चरित्र-चित्रण में मिलता है, उसके एक कण का भी आभास शरत् के पात्र-पात्रियों में दुर्लभ है. इस तथ्य को भी मैं कई निबंधों द्वारा प्रमाणित कर चुका हूं. और उन तर्कों को इस पत्र में फिर से दुहराना अनावश्यक समझता हूं. आज के युग में हिंदी की औपन्यासिक दुनिया कैसे प्रचंड क्रांतिकारी कदमों द्वारा अपने पीछे की ज़मीन को तेज़ी से पीछे छोड़कर किस कल्पनातीत रूप से आगे बढ़ चुकी है, इसका अंदाज़ा केवल घिस-फुट रूप से कुछ अंग्रेज़ी, बंगला तथा हिंदी उपन्यासों को पढ़कर छिछली दृष्टि से उनकी तुलना करने से नहीं जगाया जा सकता.

आजकल के (हिंदी साहित्य के) नये आलोचकों का तुलनात्मक ज्ञान कितना हास्यास्पद है इसके प्रमाण में मैं अपने 'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास पर लिखी गयी विभिन्न आलोचनाओं को पेश कर सकता हूं. एक आलोचक ने लिखा कि उपन्यास तो बहुत सुंदर है, पर वह बर्नार्ड शॉ के एक विशेष नाटक की नकल है, दूसरे ने लिखा कि स्कॉट के किसी एक विशेष उपन्यास से लेखक को (अर्थात मुझे) 'पर्दे की रानी' की प्रेरणा प्राप्त हुई है, तीसरे ने यह निर्देशित किया कि उक्त दोनों रचनाओं से नहीं, बल्कि दोस्तोयव्स्की के एक उपन्यास की नायिका में (उपन्यास का नाम भी बताया गया था) 'पर्दे की रानी' की नायिका के चरित्र का मेल मिलता है, चौथे महोदय ने बताया कि 'प्राइड एंड प्रेज़ुडिस' नामक विख्यात रचना से लेखक ने केंद्रीय भाव चुराया है, पांचवें ने रवींद्रनाथ के 'घरे बाहिरे' की नकल बतायी, छठे ने कालिदास की शकुंतला को 'पर्दे की रानी' की मूल प्रेरणा का सूत्र माना, सातवें ने हेवलॉक एलिस के मनोवैज्ञानिक दृष्टांतों को मेरी रचना का आधार घोषित किया, आठवें ने उसे फ्रायडीक मनोविज्ञान पर लिखा गया एक अच्छा भाष्य करार दिया, नवें ने ह्यूमा के 'कार्मेलिया' से उसका मेल पाया. इन भले आदमियों में से किसी ने भी यह नहीं सोचा कि यह भी संभव हो सकता है कि बिल्कुल मौलिक आधार पर, सर्वथा नवीन दृष्टिकोण को अपनाकर, जीवन और जगत की एकदम नयी परिस्थितियों के अंतर्केंद्रीय भावों के मूलतः नये मानों के आधार पर वह उपन्यास लिखा हो. किसी भी हिंदी लेखक की प्रतिभा की मौलिकता पर हमारे दास-मनोवृति-पीड़ित आलोचक जैसे विश्वास ही नहीं करना चाहते. एक अत्यंत प्रतिष्ठित तथा माननीय साहित्यिक बंधु से मैंने 'पर्दे की रानी' की पूर्वोक्त आलोचनाओं की चर्चा की तो उन्होंने अत्यंत गंभीर रूप से कहा कि किसी भी उपन्यास के लिए इससे अधिक गौरव की बात दूसरी नहीं हो सकती और उसकी श्रेष्ठता का इससे बड़ा प्रमाण दूसरा नहीं मिल सकता कि उसका प्रेरणासूत्र विभिन्न आलोचकगण विभिन्न रचनाओं को बतलावें.

'पर्दे की रानी' का दृष्टांत कुछ लंबा अवश्य हो गया है पर उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आज के युग के ज्ञान नव-दुर्विदग्ध आलोचकों का अध्ययन तथा अनुभव किस हद तक सीमित होते हैं, साथ ही तुलनात्मक आलोचना संबंधी उनका ज्ञान कितना हास्यास्पद होता है.

पर पूर्वोक्त दृष्टांतों में एक बात पर आपने गौर किया होगा, वह यह कि 'पर्दे की रानी' को नकल बताने का प्रयास करने पर भी, किसी भी आलोचक ने उस पर शरत् का कोई प्रभाव बताने का दुस्साहस नहीं किया. केवल 'पर्दे की रानी' के संबंध में ही नहीं, बल्कि मेरे किसी भी उपन्यास के संबंध में यह लांछन किसी भी आलोचक ने (चाहे वह समझदार हो या मूर्ख) नहीं लगाया कि उसमें शरत् का प्रभाव किसी भी रूप में है.

इसलिए 'निर्वासित' की शारदा देवी के संबंध में आपका यह प्रश्न कि शरत् के किस पात्र (पात्री?) का प्रभाव पड़ा है, मुझे (क्षमा कीजियेगा) 'मारूं घुटना फूटे आंख' की तरह लगता है. मैं आपकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वता की वास्तव में प्रशंसा करूंगा, यदि आप शरत् के किसी उपन्यास की अथवा देशी या विदेशी भाषाओं में रचे गये किसी भी अन्य औपन्यासिक कृति की, किसी भी पात्र में वही तूफानी मनोविज्ञान, वही जटिल जालमय सामाजिक तथा राजनीतिक ज्वालास्फोट, वही मनोविश्लेषिक आधार पा सकें जो कि शारदा देवी के चरित्र में और परिस्थितियों में वर्तमान है.

धीराज के संबंध में आपका प्रश्न और भी अधिक इस बात की पुष्टि करता है कि आप मेरे विचारों से, मेरी टैकनीक से, मेरी विश्लेषण-पद्धति से किस हद तक अनभिज्ञ हैं.

धीराज जिस टाइप का दुर्बल प्राण, आवश्यकता से अधिक भावुक, अहंवादी और पलायनशील प्राणी है उसकी तीव्र निंदा मैं अपने विविध उपन्यासों तथा विभिन्न निबंधों में करता आया हूं.

'निर्वासित' में मैंने उसके किसी कृत्य के प्रति न तो सहानुभूति ही प्रकट की है और न असहानुभूति, वह तो केवल एक औपन्यासिक चरित्र है, जो उपन्यास के दूसरे चरित्रों की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में किसी हद तक सहायक सिद्ध हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं.

मैं 'निर्वासित' की प्रस्तावना में स्पष्ट कर चुका हूं कि उपन्यास के किसी भी पात्र के विचारों से मेरे व्यक्तिगत विचारों का मेल बिठाना भ्रामक सिद्ध होगा.

आप यह प्रश्न भी कर सकते हैं कि महीप के विचारों में जो परिवर्तन होता है क्या वे मेरे विचार हैं? अथवा प्रतिमा द्वारा उसके मूलगत विरोध में जो प्रचंड आवेगपूर्ण तर्क उपस्थित किये जाते हैं क्या वे भी मेरे विचार हैं? इसका अर्थ यह होगा कि मैं दोनों मूलतः विरोधी विचारों का पोषक हूं, जो कि असंभव है. उसी प्रकार उपन्यास के विविध पात्र-पात्रियों के चरित्र-चित्रण में उनके विविध मनोभावों, विचारों तथा सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है, जो बहुधा एक-दूसरे के विरोधी सिद्ध होते हैं. तब क्या मैं उन सबके लिए उत्तरदायी हूं?

बात स्पष्ट यह है (जैसा कि मैं बता चुका हूं) कि मेरी विचारधारा, आदर्श, टैकनीक, दृष्टिकोण, शैली और मनोवैज्ञानिक पद्धति से आप अभी स्पष्ट ही बहुत अनभिज्ञ हैं.

आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि यदि आप मेरी किसी भी रचना के संबंध में कुछ भी लिखने का विचार करें तो उसके पहले मेरी पूरी रचनाओं का अध्ययन खूब गहराई से कर लें और फिर मूलतः नये मानदंडों के आधार पर उन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें. ऐसा न करने से आपका सारा प्रयास निरर्थक और आपके लिए हास्यास्पद सिद्ध होगा.

क्या आपने मेरे 'प्रेत और छाया' की भूमिका पढ़ी है? इधर पंतजी के संबंध में जो मेरी लेखमाला 'संगम' में निकली थी, उस पर आपकी दृष्टि गयी है?

कुछ भी हो मैं आशा करता हूं कि आप मेरी स्पष्टोक्ति के लिए क्षमा करेंगे और उससे लाभ उठायेंगे. आपकी कहानी 'धमकी' शीर्षक से 'संगम' के इसी अंक में निकल रही है. आशा है आप स्वस्थ होंगे.

विनीत

(इलाचंद्र जोशी)

(पृष्ठ ५० का शेष)

कोई अनुभव कभी हुआ ही नहीं. प्रेम की यह 'हाय . . . हाय . . .' वाली अनुभूति से मेरा कभी वास्ता पड़ा ही नहीं. मैंने ऐसे वेदनायुक्त-प्रेम के पात्र से साक्षात्कार ही नहीं किया. समझदार आदमी उससे अलग ही रहा है.

केशव : प्रेम को आप क्या केवल 'हाय-हाय' का ही प्रतीक मानते हैं?

जोशीजी : प्रेम जहां शक्ति का पर्याय बन जाता है, वहां वह व्यक्ति को न तो गिराता है और न दीन बनाता है. वह मनुष्य को ऊपर उठाने में समर्थ होता है. उसके भीतर आत्मविश्वास जगा देता है. लेकिन यह तथाकथित आधुनिक प्रेम! यह केवल चरम मूर्ख और हास्यास्पद बनाकर छोड़ता है.

केशव : इन दिनों देश में जो राजनीतिक उलट-पलट हुई, आप उसमें कहीं कोई सार्थक संदर्भ देख पाते हैं?

जोशीजी : घोर निराशा है. अपनी राय सुनता कौन है? देश की राजनीति सत्ता और गद्दी में बंध गयी है. इस देश के जैसा तमाशा न कहीं देखा न सुना. यहां जनतंत्र—कभी भी सही अर्थों में आयेगा—ऐसा भरोसा उठ गया है. गांधी इस देश की राजनीति—या पूरे देश की धुरी था. आज भी वह उतना सार्थक है. उस पर से निगाह नहीं हटनी चाहिए.

केशव : जोशीजी, अब आपकी कौन-सी महत्त्वाकांक्षा शेष रह गयी है?

जोशीजी : एक बात कहूं?—मेरे जीवन की कोई भी साध—कोई भी महत्त्वाकांक्षा कभी पूरी ही नहीं हुई. जब भी मैं किसी यात्रा पर निकला तो मेरे साथ एक छाया भी चली. हमेशा ही ऐसा हुआ कि उस यात्रा का रस वह छाया ले गयी और मुझे उसका तलछट सौंप गयी. मेरे ही भीतर वह अजनबी था जो हमेशा सारा रस, सारतत्व खींच लेता था और मुझे भटकने के लिए छोड़ देता था. अभी मैं बाहर ही बाहर भटक रहा हूं. अभी मैं घर नहीं लौट पाया हूं. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूंघट

कुलवंत सिंह विरक

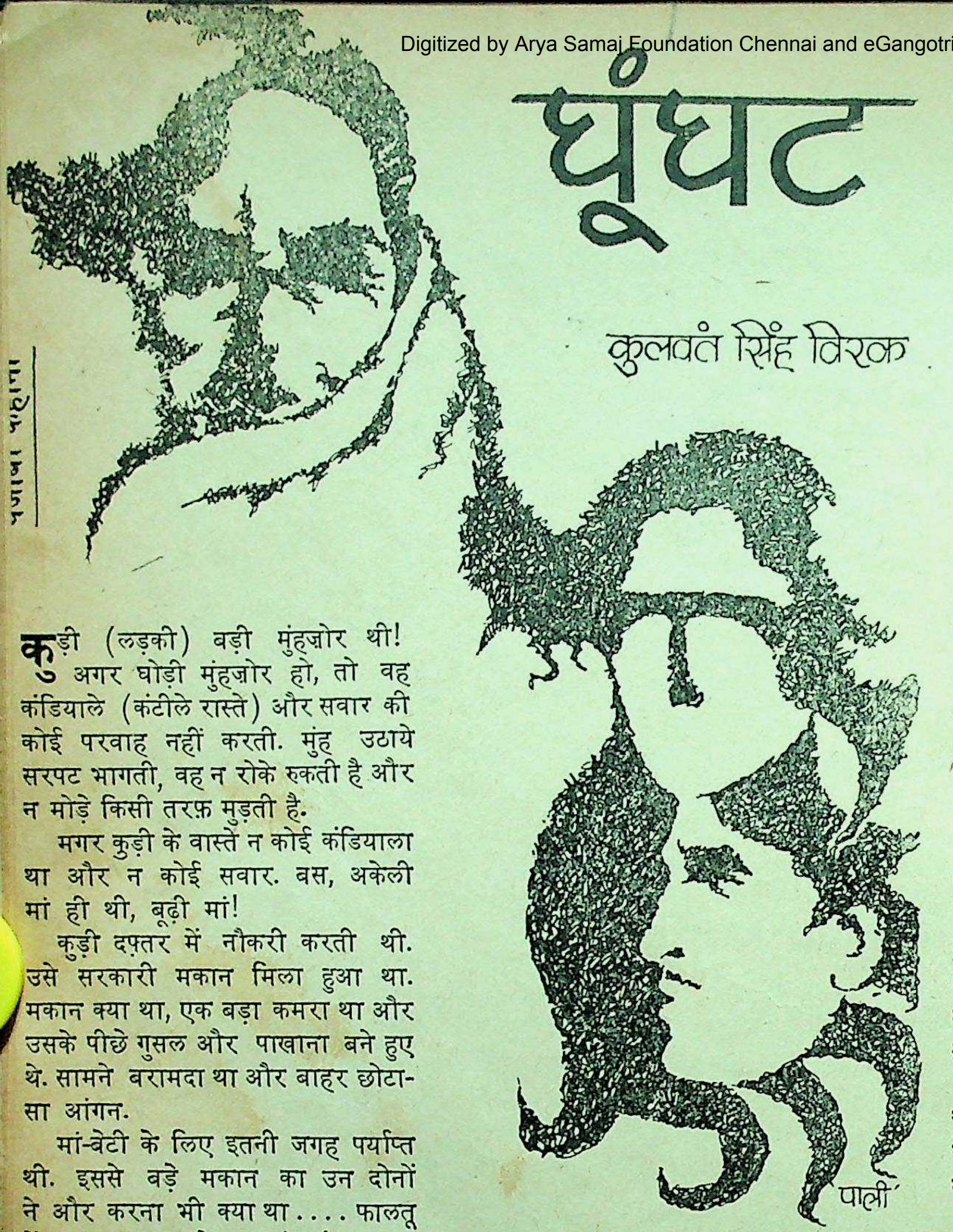

कुड़ी (लड़की) बड़ी मुंहज़ोर थी! अगर घोड़ी मुंहज़ोर हो, तो वह कंडियाले (कंटीले रास्ते) और सवार की कोई परवाह नहीं करती. मुंह उठाये सरपट भागती, वह न रोके रुकती है और न मोड़े किसी तरफ़ मुड़ती है.

मगर कुड़ी के वास्ते न कोई कंडियाला था और न कोई सवार. बस, अकेली मां ही थी, बूढ़ी मां!

कुड़ी दफ़्तर में नौकरी करती थी. उसे सरकारी मकान मिला हुआ था. मकान क्या था, एक बड़ा कमरा था और उसके पीछे ग़ुसल और पाखाना बने हुए थे. सामने बरामदा था और बाहर छोटा-सा आंगन.

मां-बेटी के लिए इतनी जगह पर्याप्त थी. इससे बड़े मकान का उन दोनों ने और करना भी क्या था.... फालतू में साफ़-सूफ़ रखने का झंझट!

वैसे उनका पुश्तैनी मकान तो गांव में था. कुड़ी के भाई-भाभी और बापू वहीं रहते थे. बहन-भाई तो उसके और भी पैदा हुए थे, पर उनमें से कोई नहीं बचा. सिरफ़ वे दोनों ही रह गये. लड़का उम्र में बड़ा था और कुड़ी उम्र में उससे तीन-चार जगह छोटी. पढ़ता तो लड़का भी रहा था, लेकिन वह दसवीं में फेल हो गया, तो बापू ने उसे स्कूल से उठा लिया. पर कुड़ी होशियार निकली. बापू की, अपने बच्चों को उच्च-शिक्षा देने की, साध उसने ही पूरी की. फिर उनके गांव की तरफ़ के एक सरदार ने, जो उसके बापू का परिचित था, उसे दिल्ली के एक दफ़्तर में नौकर करवा दिया.

कुड़ी ने अभी ब्याह नहीं करवाया था. जब भी घर वाले बात छेड़ते, वह कहती "खुद ही कर लूंगी!"

"खैर, खुद कर, पर करवा तो सही."

"करवा लूंगी. आप फ़िक्र न करें!"

वह तनख्वाह में से कुछ पैसे घर वालों को भेज देती. यह उन्हें बहुत अच्छा लगता और वे इससे उस पर और भी भरोसा कर लेते. मां-बाप इसीलिए तो औलाद को पढ़ाते-लिखाते हैं न... कि वह खट-कमाकर उनको भी सुख दे! बस, इसमें कुछ खेदजनक था, तो सिर्फ़ यह कि कंवारी होने की वजह से मां को कुड़ी के पास रहना पड़ता था.

"इस अकेली को यहां कैसे छोड़ूं... ऊपर से ज़माना भी कैसा है," मां लोगों से कहती, "कहीं अपना घर-बार बसा ले तो मैं भी जाकर सिर के मालिक (पति) के पास रहूं"

"हुण सुख-नाल एहदा व्याह क दओ!" लोग कहते.

"देखो, कोई संयोग भी तो लिखा हो न!" वह आधा दोष भगवान के सिर थोप कर, अपने गले से बला उतार देती. मगर मन ही मन वह बहुत डरती कि अगर जल्दी ही इसका रिश्ता न हुआ तो उम्र बड़ी होने पर इससे कौन शादी करेगा. वह उसके पिता से कहती पर उसकी भी कोई पेश न चलती. अगर वह पढ़ी-लिखी न होती तो वे किसी भी गांव में उसका रिश्ता कर देते. पर पढ़े-लिखे और नौकरी करते लड़के मेल-जोल में नहीं थे. इधर कुड़ी थी कि पढ़ाई करके और दिल्ली में रह कर कुछ और की और ही निकल आयी थी. वह अब भला गांव में कैसे रह सकती थी!

कोई छोटी-मोटी नौकरी वाला लड़का मिलता भी, तो लड़की बात ही आगे न बढ़ने देती. वह कहती "आप किसी तरह का उपक्रम न करें. ब्याह अपने आप हो जायेगा. जल्दी क्या है?"

वे मन मसोसकर लाचार हो जाते. जो जगह कुड़ी को पसंद नहीं, वहां वे उसका ब्याह कैसे कर सकते थे! क्योंकि वह भी बड़ी मुंहज़ोर थी.

▣

मगर अब मामला कुछ और ढंग से उल्टी तरफ़ चल पड़ा था. कभी-कभी कुड़ी के साथ एक मुंडा (लड़का) भी आने लगा था.

वे दोनों बातें करते हुए आते. मां बाहर बरामदे या आंगन में बैठी होती. मुंडा उसे बड़े आदर से "माताजी पैरीपैना" कहता और कुड़ी के साथ कमरे की तरफ़ चला जाता. कुड़ी चाय बनाती और फिर वे जो कुछ साथ लाये होते, खा और बातें करते रहते.

किसी मरद से इतना मेल-जोल ठीक नहीं! मां सोचती—खास तौर से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मरद संग जिसका कोई आगा-पीछा ही मालूम न हो. . . . . कुड़ी को उसकी इस हरक़त पर चेताया जाना चाहिए!

पर चेताये तो चेताये कैसे! कुड़ी बड़ी मुंहज़ोर थी. अगर उसकी यही नीयत है तो वह रोके कहां रुकने वाली है. अगर वह अपने पति या बेटे से कह दे तो कहीं वे कोई बखेड़ा न खड़ा कर दें. सारा घर ही न उजड़ जाये. मामला अगर कत्ल-खून तक न भी पहुंचे, तो भी कमीज़ उठाने पर अपना ही पेट नंगा होगा. . . . .कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि. . . .! सोचती वह असमंजस में पड़ी रही और आखिर उसने फ़ैसला किया कि इस बारे में वह उससे खुद ही बात करेगी.

शाम को कुड़ी आयी तो उसने पूछा, "वह जो मुंडा तेरे साथ आता है, उसका नाम क्या है?"

". . . .!" कुड़ी ने बता दिया.

"शादी-शुदा है या कंवारा?"

"पता नहीं!" उसने कोरा जवाब दिया.

"पीछे. . . . कहां का है?" मां ने लड़के को मूल से जानने की कोशिश की.

"पता नहीं!" उसने फिर उसी तरह जवाब दे दिया.

मां को अब उस पराये अजनबी से भय-सा होने लगा. कुड़ी बिल्कुल उसकी मुट्ठी में आयी प्रतीत होती थी. वह तो उसके साथ कुछ भी कर सकता था. कोख से पैदा करने वाली मां बेगानी हो गयी और वह बाहर का कोई लल्लू-पंजू सगा बन बैठा! उसका क्या भरोसा है? चाहे कुड़ी को कहीं उड़ा ले जाये. कहीं छोड़ आये . . . चाहे हर पहली तारीख को उसकी सारी तनख्वाह अपनी हथेली पर धरवा ले. . . . वह कुछ भी अनाप-शनाप कर सकता है उस के साथ. . . . !

पर मां बेचारी करे, तो क्या करे. लड़की को शहर में नौकरी करवा कर वह जैसे वक़्त की किसी गोह के शिकंजे में फंस गयी थी. फिर भी लोगों के सामने हर बात पर परदा डालने की कोशिश करती.

"यह मुंडा कौन है जो आता है कुड़ी के साथ . . . तुम्हारे घराने का ही होगा!" अड़ोस-पड़ोस में से कोई पूछता, तो वह कहती, "हां, हमारे गांव के खतरियों (क्षत्री) का है. कुड़ी ने दफ़्तर में कोई इम्तिहान देना है. मैंने ही तरला किया था कि कंबख्त, कभी बहिन को भी कुछ पढ़ा-समझा जाया कर. . . इसका भी झमेला खत्म हो. . . . बेचारी कुड़ियों को कहां आती हैं दफ़्तर की बातें. . .बड़ा नेक है बेचारा!" . . . कहने लगा, "यह कौन-सी बड़ी बात है. बे जी-मांजी), मैं समझा दूंगा इसे सब कुछ!"

मां को मालूम था कि लड़की ने दफ़्तर में कोई परीक्षा दी थी और उसमें पास हो गयी थी.

▣

जो कुछ वह खुद सोचती थी उस बारे में वह किसी से कोई बात न करती. मगर अंदर ही अंदर वह मारे चिंता और लज्जा के भुर-भुराती रहती. कुड़ी-मुंडे का आना-जाना, उठना-बैठना बढ़ता ही जा रहा था. उसे समझ न आता कि आखिर वे ऐसी कौन-सी गूढ़ी बातें करते हैं जो दिन-रात कभी ख़त्म नहीं होतीं. वह उन्हें रोकना चाहती पर सांप के मुंह में छिपकली . . . न उगलते बने, न निगलते! पर आखिर उसने उनकी गूढ़ी बातों में विघ्न डालने का ढंग खोज निकाला. जब-जब वे आकर कमरे में बैठते तब-तब वह कोई काम लेकर अपनी पीढ़ी भी कमरे में ही डालकर बैठ जाती. उस समय वे चाहे उससे कोई बात न करते किंतु आपस में भी कोई भली-मंदी बात न कर पाते. इससे मां का डर चाहे बढ़ जाता किंतु उसे कुछ तसल्ली भी मिलती. कभी वह उनके पास बैठी मटर छील रही होती, कभी मेथी तोड़ने लगती, कभी साग काटने बैठ जाती और कभी दाल चुगने. वे दोनों चोरी-चोरी उसे कहर की नज़रों से घूरते, पर असहाय से कुछ कर न पाते.

एक दिन मां नजदीक ही कहीं पड़ोस में गयी हुई थी. पीछे से कुड़ी-मुंडा आये और जाकर कमरे में बैठ गये. मां आयी तो उसने उत्सुकतावश पहले खिड़की में से झांककर देखा. . . . .देखा और कांपकर रह गयी. मुंडा सहज ही कुड़ी के दोनों गालों को अपनी दोनों हथेलियों में लेकर पलोस रहा था!

मां अपने-आप में लरज-सी गयी . . . वह अंदर भी जाये तो कैसे ! मारे गुस्से के वह कुछ भी वाही-तबाही कर डालना चाहती थी किंतु अपनी ही बदनामी के भय से वह असमंजस में पड़ी बावलों की तरह बगलें झांकने लगी. कहीं कोई अड़ोसी-पड़ोसी आ गया तो? वाहे गुरु! यह किस परीक्षा की घड़ी में डाल दिया! पसीना-पसीना हुई वह बाहर आंगन में वहीं बैठ गयी, जहां से उठकर गयी थी.

कुछ पल वह अपने-आप में गुमसुम दिल थाम के बैठी रही. मगर उसकी घबराहट कम न होकर बढ़ती गयी. उसकी आंखों के सामने अनर्थ हो रहा था और वह असहाय-सी कुछ कर नहीं पा रही. गांव होता तो. . . . ! सोचते-सोचते उसे बड़े ज़ोर से पेशाब लग गया. वह झटके से उठ खड़ी हुई. पर अब वो पेशाब करे तो करे किस जगह? जगह तो कमरा पार करके परली तरफ़ थी और कमरे में उसकी अपनी बेटी किसी पराये मर्द के साथ बैठी खेह (तबाह होना) खा रही थी. . . . . कहीं आस-पड़ोस में कर आये? वे क्या सोचेंगे भई, अपने घर क्यों नहीं करती! हो सकता है उन्होंने भी उन दोनों को कमरे में जाते देख लिया हो! इस ख़्याल से उसकी कंप-कंपी छूट गयी! . . . नहीं, मैं थोड़ी देर जैसे-तैसे बर्दाश्त कर लेती हूं . . . अभी यह कलमुंहा खुद ही चला जायेगा . . . यह शहर भी कितनी गंदी जगह है. . . .इस तरह की बात कहीं हुई हो, सुनी भी नहीं. . . . हे वाहेगुरु! भूल-चूक माफ कर!

पर अब वह पेशाब करे कहां? वह फिर परेशान हो उठी और उसे ख्याल आया कि गांव में जब वह पति के लिए भत्ता लेकर खेत की ओर जा रही होती थी, तो रास्ते में या बाहर कभी-कभी कई भौंड़े और असामाजिक दृश्यों के नज़दीक से गुज़रना पड़ता था; रास्ते के समीप कहीं कोई जना जंगल को बैठा होता, कहीं कोई कुत्ता-कुतिया परस्पर बंधे-से होते. ऐसे मौकों पर वह अपने दुपट्टे से लंबा-सा घूंघट काढ़ कर नज़र नीची डालकर अपनी राह चली जाती थी.

अब भी उसने अपना दुपट्टा ठीक किया लंबा-सा घूंघट काढ़ा और निगाह झुकाये कुड़ी-मुंडे की बगल से कमरे में से गुज़रती परली तरफ चली गयी! □

▣ रूपांतर : रमेश बत्तरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

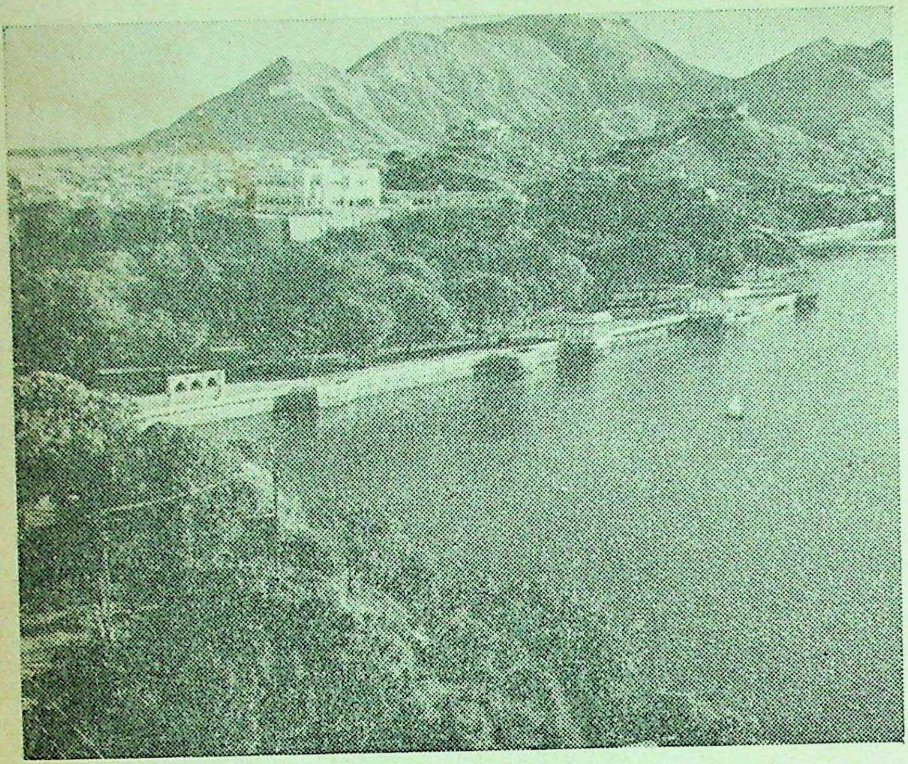

रिपोर्ताज

काला आसमान, पेट की राजनीति और मेरा शहर—अजमेर

■ ईश्वर चंदर

अजमेर पृथ्वीराज चौहान का शहर है, अजमेर ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का शहर है, लेकिन यह रघु का शहर भी है. रघु!...रघु कौन है? रघु एक जेबकतरा है! लेकिन नहीं, रघु एक पूरी परंपरा है. रघु एक पूरे युग का, एक पूरे काल-खंड का मानवीकृत रूप है, इतिहास की शताब्दियों में से छन-निथर कर आयी संस्कृति और परंपरा का मानवीकृत रूप.

वह मुझे नहीं पहचानता—पहचानता भी कैसे! . . . .एक अर्सा बीत गया है—उसने मुझे नहीं देखा है. लेकिन मैंने उसे पहचान लिया है. इतने लंबे अंतराल के बाद उसे देखा है. पहचानना तो वैसे मेरे लिए भी संभव नहीं था. इतने वर्षों के बीच कितनी गर्दिशें मैंने झेली होंगी—और कितनी ही बार वह जेल गया होगा. अपनी-अपनी तकलीफ़ों ने, दोनों के चेहरों पर अपने निशानों के पर्दे चढ़ा लिये थे. लेकिन मेरे पास अगर कोई पहचान थी, तो बस एक—और वह थी, उसके होंठों के पास, किसी एक चाकू के घाव का बहुत बड़ा निशान.

रेलवे स्टेशन वैसे मेरा आना होता नहीं. लेकिन कभी-कभी आ जाता हूं— किसी को रिसीव करना हो—या 'सी-ऑफ' करना हो. आज भी ऐसा ही हुआ था. ठुमक-ठुमक झुनझुने की तरह बजते हुए एक तांगे मेहमान को स्टेशन तक लाया हूं. अब अजमेर में ऑटो-रिक्शा भी टैक्सी भी हैं. लेकिन घर दूर पड़ता और अगर कोई वाहन नहीं मिले कड़-कड़, चड़-चड़ करते हुए तांगे सवारी भी स्वीकार करनी होती

फोटो के नीचे लिखा नाम

स्टेशन तो जैसे-तैसे पहुंच गये लेकिन यहां आकर पता चला है गाड़ी कुछ लेट है. गाड़ी की प्रतीक्षा खड़े लोग शायद कुछ ऊब गये हैं रह-रहकर वे उस दिशा की तरफ़ रहे हैं जिधर से गाड़ी आनी है.

वह भी और लोगों की तरह आने वाली दिशा की तरफ़ देख रहा लेकिन बार-बार चोर निगाहों से खड़े लोगों के चेहरों और सामान की भी ताक रहा है. उसकी इस हरकत मेरी पहचान को और भी निश्चित दिया है. सोचता हूं, गाड़ी आये—तब उससे बात ही कर लेता हूं—केवल सुनिश्चित करने के लिए, कि कहीं मैं पहचानने में ग़लती तो नहीं कर रहा

आगे बढ़कर मैं उससे कहता हूं, देखा है कहीं. . .!"

अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को अधिक चौड़ा कर अपने मोटे-से पर बिना कोई मुस्कान लाये, वह बेबाकी से कह देता है, "देखा होगा! कई स्टेशनों पर मेरी फोटो कि इनसे सावधान रहें."

उसके बोलने का लहज़ा मुझे नहीं लगता. लेकिन मन ही मन बेबाकी को सराहने लगता हूं.

फिर भी मैं पूछ ही लेता हूं, पहचान रहे हो? मैं . . . हूं!"

वह फिर भी उसी लहज़े में उत्तर है, "तुम्हारे जैसे कितने ही चेहरे मिलते हैं मुझे. . . मैं किस-किस पहचानता फिरूं?. . . और फिर में रखा भी क्या है. . . बाबू! यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहचान उनके लिए तो ज़रूरी हो सकती है, जो अपने गये-वक़्त की तरफ़ झांकते हों—या फिर जिन लोगों ने आने वाले समय के लिए कुछ सपने संजोए हों—लेकिन हमें तो इस पहचान-वहचान से कोई मतलब नहीं है. . .!"

अब मुझे उसका नाम भी याद आ गया है, "रघु हो ना तुम?"

"हां, यहां आस-पास के कई स्टेशनों पर मेरी फोटो के नीचे यही नाम लिखा हुआ है—'रघुनंदन प्रसाद'!" इतना कहकर वह फिर सिगनल की तरफ़ देखने लगता है.

फिर कितनी ही ऐसी पुरानी बातों की मैं उसे याद दिलाता हूं, जो वह लगभग भूल-सा गया है.

▣

अजमेर रेलवे स्टेशन से बाहर निकलते ही एक घंटा-घर पड़ता है, जिस पर

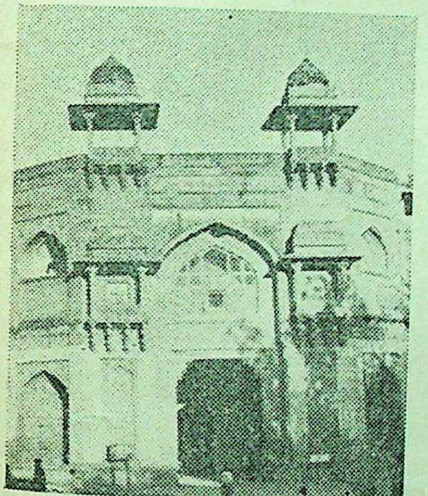

'मैगजीन'—जहां सर टामस रो जहांगीर से मिले थे, जहां की बंद खिड़कियां आज भी भारत की गुलामी की शुरुआत और घुटन की गवाह हैं.

मैंने आज तक कभी इसलिए विश्वास नहीं किया है, क्योंकि उसकी चारों दिशाएं अलग-अलग समय बताती रही हैं—उस पाखंडी नेता की तरह, जो एक ही नगर में, एक ही दिन चार आम-सभाओं में चार तरह के झूठ और चार तरह की भ्रामक बातें बोलता हो.

उसी घंटा-घर के साये में पला था रघु. एक उस्ताद था, जो अब शायद ज़िंदा नहीं होगा. छोटे-छोटे बच्चों को पकड़ लाता था, और उन्हें जेब काटने और चोरी करने की कला सिखाया करता था.

घंटा-घर से ही जैसे जुड़ा हुआ है, अजमेर का मुख्य बाज़ार—मदार गेट. लोग यहां तरह-तरह के इरादों से आते हैं—कोई केवल कुछ ख़रीदारी करने के लिए, कोई महज़ तफ़रीह के लिए, तो कोई आती-जाती ख़ूबसूरत लड़कियों को ताकने के लिए. लेकिन रघु को मैंने वहां एक ही इरादे से घूमते पाया था—जेब काटने के लिए.

तब शायद मैं छोटा था, या फिर इतना परिपक्व नहीं हुआ था कि मैं रघु को जेब काटता देखकर चुप रह जाता. मैं मदार गेट पर, मामा की दुकान पर अक्सर जाकर बैठता था. तब एक दिन रघु किसी की जेब काटने ही वाला था कि मैं चिल्ला पड़ा था. रघु तो भाग गया था लेकिन उसका उस्ताद एक बार मेरी सूरत खुद भी देख गया था और किसी एक मुच्छंदर को भी दिखा गया था. और कुछ हो न हो—यह तो मैं भांप गया था कि जेब तो काटने वाले की नहीं कटी लेकिन मेरी पिटाई ज़रूर हो जानी है.

सुविधा के क्षणों की तलाश

रघु को आज जब मैंने वह पुरानी घटना बतायी है तो वह मुझे पहचान गया है.

जब वह पहचान गया है, तो मुझसे खुलकर बात करने का थोड़ा साहस भी आ गया है. पूछ लेता हूं उससे, "रघु, जब तुम्हारी फोटो कुछ स्टेशनों पर लगी हुई है तो तुम्हें डर नहीं लगता, कि कोई तुम्हें पहचान लेगा?"

वह बड़ा ही अजीब-सा उत्तर देता है, "गुरु! जब गाड़ी आती है तब सीट-वीट हथियाने के चक्कर में लोग खुद की पहचान ही भूल जाते हैं. सो मुझे क्या पहचानेंगे...और फिर जिन क्षणों में आदमी अपनी पहचान तक भूल जाये—वे क्षण हमारे लिए सुविधा के क्षण होते हैं. अच्छी-खासी जेब मिल जाती है तो ठीक. . . नहीं तो किसी का बैग ही ले उड़ते हैं."

"ऐसा करते हुए अगर तुम पकड़े गये—तो?" मैं आश्चर्य से पूछता हूं.

वह इस सवाल से जैसे पहले ही परिचित है—और जैसे उसके पास पहले से ही उसका जवाब तैयार है, "इस देश में जेब काटने या बैग उड़ाने से फांसी तो लगती नहीं और न ही हाथ काटे जाते हैं—मिलती है, तो बस, कुछ दिनों की जेल... सो जेल की उन दीवारों या उस पिंजड़े से अपनी अच्छी पहचान हो गयी है."

मैं फिर पूछ बैठता हूं, "यहीं अजमेर में ही रह रहे हो या कहीं और भी जाते हो?"

वह हंस पड़ता है मेरे इस सवाल पर, "हा...हा...हा...! अरे भई, दूसरे शहरों में जाता हूं—तभी तो कई स्टेशनों पर फोटो टंगे हैं...!"

फोटो का प्रसंग आते ही वह कुछ देर को गंभीर हो जाता है. फिर जैसे विगत में झांकता हुआ-सा कहता है, "ख़्वाजा साहब का उर्स भरता है ना, अजमेर में? उर्स में कई पैसे वाले मुसलमान भी आते हैं, भारत से ही नहीं, दुनिया भर से...मक्का-मदीना के बाद मुसलमान ख़्वाजा साहब की दरगाह की ज़ियारत को मुक़द्दस मानते हैं. . .लोग ख़्वाजा साहब से कई तरह की मिन्नतें मांगने आते हैं—और मैं यही दुआ मांगता हूं कि ऐ मेरे पीर साहब! कोई अच्छा-सा असामी दिलवा देना!" कुछ रुककर जैसे फिर से अतीत में झांकता हुआ वह कहता है, "एक बार एक अच्छी जेब मिल भी गयी थी. तब एक फोटोग्राफ़र के यहां फोटो खिचवाने का मोह नहीं छोड़ पाया था. अच्छी जेब हाथ लगी थी... तभी फोटोग्राफ़र के यहां बाहर लगी फोटुओं को देख-देखकर मन लालायित हो उठा था. कोई मधुबाला के गले में बाहें डाले हुए था तो कोई नरगिस के गाल से गाल मिलाए हुए था. फोटो-ट्रिक थी. लेकिन हमें अच्छी लगी थी. हमने भी मीनाकुमारी की आंखों में आंखें डालकर फोटो खिचवायी थी. लेकिन ज़िद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह थी, कि फोटो शो-केस में लगनी चाहिए. दस रुपये आगे बढ़कर फोटोग्राफ़र को दिये थे इस बात के," फिर एक ठंडी सांस लेता हुआ रघु कहता है, "लेकिन अब तो पुलिस आगे बढ़कर ख़र्च करती है. हमारी फोटो खिचवाती है. स्टेशनों पर लगाती है. हज़ारों लोग देखते हैं, 'दर्शन' करते हैं. फ़र्क है तो बस इतना, कि अब मीनाकुमारी के सामीप्य की बजाय, एक स्लेट गले में टंगी होती है, जिस पर चॉक से हमारा नाम लिखा होता है—रघुनंदन प्रसाद!"

बोलते-बोलते उसका गला जैसे कुछ रुंध आया है.

अब मैं बोलने लगता हूं, "ख़्वाजा साहब, तुम्हारी कैसे मदद कर सकते हैं? तुम कोई किसी अच्छे काम की मिन्नत मांगते, तो कोई बात भी थी. ख़्वाजा साहब किसी बुराई में थोड़े ही तुम्हारा साथ देंगे."

वह जैसे किसी बहस में पड़ना नहीं चाहता. इसलिए कहता है, "हो सकता है न दें—लेकिन मेरा अपना विश्वास है, कि वे मेरी सुनते हैं...!" फिर कुछ रुककर वह कहता है, "अरे भई! जेब काटने वाले कोई हम अकेले तो हैं नहीं...जमाख़ोर भी तुम्हारी जेब काटता है...रिश्वतख़ोर भी ऐसा ही करता है...वे बदनाम इसलिए नहीं होते कि सेठ कहलाते हैं. एकाध मंदिर, दो-एक मुसाफ़िरख़ाने बनवा देते हैं. वहां अपनी भी कोई तस्वीर टंगवा लेते हैं. बस, सिर्फ़ तस्वीर के टांगने का फ़र्क है—टंगे दोनों ही रहते हैं...!"

थोड़ी देर को हम दोनों चुप हो जाते हैं. इस बीच एक मोटा-सा आदमी हमारे पास से हांफता हुआ निकल जाता है. वह उसकी नकल करने के अंदाज़ में अपना पेट फुला लेता है.

मैं केवल मुस्करा देता हूं. वह कहने लगता है, "बाबू, सच-सच बताओ... दुनिया का यह सारा झमेला पेट की ख़ातिर है ना?... तुम लोग ऊपर वाले से मंदिर-मस्जिद, गिरजा-घर या गुरुद्वारे में क्या मांगने जाते हो?...बाबू, यह सब तरह की पूजा, सब तरह के सजदे केवल पेट की ख़ातिर होते हैं ... और हम जेब भी पेट भरने की ख़ातिर काटते हैं...!"

उंगलियों और जेब का सौदा

मैं फिर सवाल करता हूं, "अगर दरग़ाह शरीफ़ के उर्स को तुम नहीं छोड़ते, तो पुष्कर के मेले को भी नहीं छोड़ते होगे?"

"कमाल है, बाबू!" वह फिर हंस देता है, "यह दीन-धर्म के झमेले आपके लिए हो सकते हैं! हमारा तो एक ही धर्म है कि जेब काटते हुए किसी के दीन-धर्म का ध्यान न रखें. हमारा दीन-धर्म तो करंसी-नोट्स हैं, बाबू! अब हमारे लिए पुष्कर दूर भी क्या पड़ता है? अपने अजमेर स्टेशन से केवल सात मील दूर... किराया भी एक रुपये से कम...और फिर तुम लोग ही तो कहते हो ना, कि दुनिया भर के तीर्थ कर लो—पुष्कर-स्नान के बिना सब अधूरा है... और हम ... हम अपने ग्राहकों के स्नान का लाभ उठाते हैं... वो गाना सुना है ना, भैया! 'इधर आंख झपकायी और उधर माल यारों का'. सो अपना भी वही फ़ार्मूला है... यात्री ने उधर पानी में डुबकी मारी कि कपड़े पार ... और

अजमेर का वह महंगा मेयो कॉलेज, जहां रघु कभी अपने बच्चों को नहीं पढ़ा सकता.

फिर यही एक ठिकाना थोड़े ही है... लंबा चौड़ा पुष्कर है, जहां ब्रह्म के मंदिर के अलावा और भी कितने ही मंदिर हैं. कहीं न कहीं तो हमारी उंगलियों और ग्राहक की जेब का सौदा पट ही जाता है..."

मुझे थोड़ा अजीब लगता है, कैसा आदमी है रघु? लोग बेचारे पृथ्वीराज चौहान की नगरी अजमेर इसलिए आते हैं कि वे इतिहासकार गौरीशंकर ओझा, शब्दकोषकार सुखसंपतिराय भंडारी (मन्नू भंडारी के पिता), शारदा एक्ट के लागू करवाने वाले समाज-सेवक हरबिलास शारदा और क्रांतिकारी अर्जुनलाल सेठी के नगर अजमेर का भ्रमण करेंगे. लोग यहां इसलिए आते हैं कि ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह देखेंगे, दरगाह में रखी ऐतिहासिक छोटी देग और बड़ी देग देखेंगे, अनेक मंदिरों को जो अपनी माला में पिरोए हुए हैं—वह पुष्कर देखेंगे, सेठ मूलचंदजी सोनी का बनवाया हुआ जैन मंदिर 'नसियां' देखेंगे, नगर के प्रहरी के रूप में बसा 'तारागढ़' देखेंगे, ऐतिहासिक स्थल 'ढाई-दिन-का-झोपड़ा' देखेंगे, पिकनिक स्थल फॉय सागर देखेंगे, संगमरमर की बारादरी के आंचल में लहराता आना सागर देखेंगे, सर टामस रो ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना के लिए जहां अनुमति लेने आया था, वह स्थल 'मैगज़ीन' देखेंगे—और देखेंगे आना सागर के उस तट पर स्थित उस भवन को, जो आर्य समाज के प्रवर्तक श्री दयानंद सरस्वती की याद को ताज़ा करता है, जिन्हें अजमेर में ही ज़हर देकर मारा गया था. लेकिन...लेकिन यह रघु और ऐसे कितने-कितने रघु—उन बेचारे सैलानियों का घूमना ज़हर कर देते होंगे. बिना पैसे के बेचारे क्या घूमेंगे?

मैं पूछता हूं रघु से, "रघु! तुम्हें बुरा नहीं लगता, जब किसी ग़रीब की जेब काटते हो? ... बेचारा सैलानी या तीर्थ-यात्री तो दुखी हो जाता होगा...?"

वह फिर अपनी बेहूदा हंसी हंसने लगता है, "गुरु! ग़रीब के पास पैसा कहां होता है..... अब यहीं देख लो... पुष्कर का मेला जब भरता है, तब यहां लाखों रुपयों के ढोर-डंगर बिकते हैं ... ग़रीब बेचारा कहां तो ऊंट ख़रीद सकता है—और कहां बैलों की जोड़ी? पैसे वाले कई धनी किसान आते हैं—कभी हमारा भी हिस्सा उनकी जेब से निकल आता है ... !" इतना कह कर वह कुछ देर को चुप हो गया है. जब मैं कुछ नहीं कहता तो वह फिर बोलने लगता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

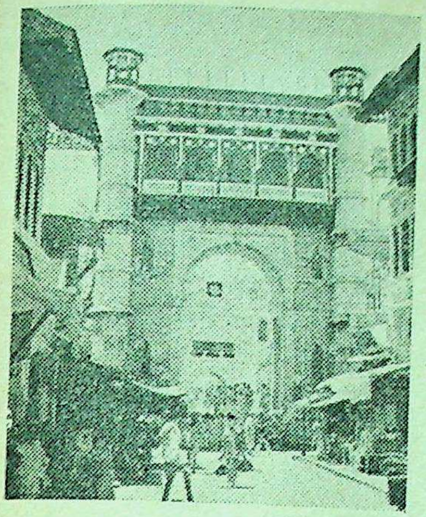

ख्वाजा साहब का उर्स समाप्त होने के बाद दरगाह शरीफ के आसपास छायी हुई खामोशी, जो रघु को अच्छी नहीं लगती

है, "हां! ग़रीबों की जेब काटना उसे कहते हैं जब हम कारखानों के मज़दूरों की जेब काटते हों. . . .अब देखिये, इस अजमेर जैसे छोटे-से नगर में रेलवे के दो बड़े-बड़े कारखाने हैं—कई दफ़्तर हैं—एक तरह से तुम इसे 'रेलवे का नगर' ही कह सकते हो . . . वैसे यहां एच. एम. टी. भी है . . . हर धर्म, हर जाति के लोग, यहां अलग-अलग कारखानों और दफ़्तरों में काम करते हैं . . . मतलब काफ़ी कुछ है." कुछ देर रुककर वह फिर कहता है, "सच मानो भैया, . . . कारखाने के मज़दूर की जेब काटते हुए, कभी-कभी दुख होता भी है, लेकिन फिर यह कहकर अपने रुंआसे मन को सांत्वना देनी होती है कि रघु, जेब तो उस ग़रीब की कटनी ही है, तू नहीं काटेगा, तो अभी थोड़ी दूरी पर खड़ा, कोई ब्याजखोर ही काट लेगा."

धंधा और इन्सानियत

रघु के तर्क मुझे अजीब लगते हैं. मेरी समझ में नहीं आता कि मैं उसे निर्दयी कहूं या आज के बेरहम समय को देखते हुए, एक व्यवहारिक आदमी!

मैं उसे कह भी देता हूं, "रघु! भई, जेब ही काटनी है तो बड़े-बड़े लोगों की काटो . . . इन ग़रीबों की जेब काटते हुए तुम्हें थोड़ी तो दया करनी ही चाहिए, भले यही सोचकर कि महीना भर उनके बिलखते बच्चे क्या खायेंगे . . . .?"

वह एक बार मेरी तरफ़ देखता है. अपने मोटे होंठों पर दांत गड़ाकर कुछ देर चुप खड़ा रहता है और फिर कहता है, "बाबू! यह साली पेट की राजनीति जो है ना, अंधी होती है. किस-किस को रोइये! . . . . और फिर कौन रोया था तब, जब मुझ अनाथ को लगातार चार दिन तक खाना नहीं मिला था . . .कौन रोया था तब, जब स्टेशन के बाहर वाले इसी घंटाघर के नीचे, मैं भूख के मारे बेहोश हो गया था—तब कोई नहीं रोया था, बाबू! कोई नहीं रोया था . . .कोई नहीं रोया था . . . तब बस, मेरे उस्ताद ने मुझे संभाल लिया था . . . उस्ताद ही मुझे अपने यहां ले गया था. खाना खिलाया था भर पेट—और फिर धंधा सिखाया था . . .उंगलियों का खेल . . . बाबू! यह भी एक जादू है. जादूगर हाथ का कमाल दिखाता है और हम उंगलियों का खेल . . . !" इतना कहकर वह कुछ देर को फिर चुप हो गया है. अगले ही पल जैसे किसी सपने में से उठकर बोलना शुरू कर देता है, "उन्हीं दिनों—मुझे याद है— कि उस्ताद ने स्टेशन पर एक ऐसे आदमी की जेब काटी थी, जो पानी का लोटा भरने नल पर आया था. बाहर आकर हम लोगों ने देखा, तो पर्स में पैसों के साथ फ़र्स्ट-क्लास का एक टिकिट भी था. मैंने उस्ताद से कहा था, 'उस्ताद! पैसे अपन ने उसके मार लिये हैं. . .बेचारे के पास टिकिट भी नहीं रहा . . .अगर टी. टी. ई. ने उसे चार्ज कर लिया तो बेचारा पैसे कहां से देगा?' . . तब उस्ताद ने मुझे थप्पड़ मार दिया था और कहा था, 'तुम क्या यह चाहते हो, कि उसे टिकिट वापिस देने जाऊं? और फिर खुद को जेल भिजवाऊं? . . .देखो, बेटे! . . अपने धंधे में रहम नहीं होता है . . .जमाखोर क्या कभी सोचता है कि चीज़ें बाज़ार में न मिलेंगी तो लोग मर जायेंगे! रिश्वतखोर कभी सोचता है कि बेचारे गरीब से रिश्वत ले रहा हूं—कहां से देगा—या बेचारा कहां से भीख मांग कर लायेगा? नहीं सोचते, वे ऐसा नहीं सोचते, बेटे! . . . धंधे में कोई रहम नहीं होता, कोई रहम नहीं करता."

मैं देख रहा हूं, यह सब बताते हुए, रघु फिर अतीत में झांकने लग जाता है. उसके सामने जैसे किसी अतीत का भी कोई अतीत लौट आया है.

मैं फिर एक शब्द का सवाल उससे पूछता हूं, "फिर?"

रघु फिर जैसे वर्तमान में लौट आया है. कहता है, "हां! . . .फिर मैंने उस्ताद से कहा था, 'उस्ताद! . . . तो फिर तुमने मुझे बेहोश पाकर मुझ पर रहम क्यों किया था? . . . मरने देते मुझे!'—मेरी इस बात पर उस्ताद थोड़ी देर को चुप हो गया था. उसकी आंखें भर आयी थीं. वह बस इतना ही बोला था, 'आदमी तो मैं भी हूं, बेटे! इन्सानियत का अर्थ मुझे भी आता है, लेकिन, बेटे! धंधा करते हुए सब भूल जाता हूं . . . . .भूल जाना होता है . . . कभी-कभी—शैतान को भी खुश करना होता है, बेटे!'"

मैं देख रहा हूं, रघु की भी आंखें नम हो आयी हैं . . . शायद उसे अपने भगवान . . .अपने उस्ताद की याद हो आयी है.

तभी अचानक गाड़ी आती दिखाई दे जाती है . . . इंजन-ड्राईवर ने ढेर-सा काला धुआं स्टीम-पाईप से छोड़ दिया है . . . . आसमान काले धुएं से ढक गया है, काला पड़ गया है . . . . !

मैं इधर-उधर देखता हूं. रघु कहीं भीड़ में शामिल हो गया है. थोड़ी देर को आदमियत भूल जाने के लिए, या फिर शायद पेट की राजनीति से जूझने की खातिर . . . . . !

और मुझे लगता है, मैं पृथ्वीराज चौहान हूं . . .पहाड़ों की नाकाबंदी में, मैंने एक शहर पर राज किया—जिसे लोगों ने 'अजयमेरु' से 'अजमेर' बना दिया है, जहां पहुंचते ही हिंदु का प्रणाम में और मुसलमान का सजदे में सिर झुक जाता है. . . .और तब लगने लगता है, हम सब अपनी-अपनी आस्थाओं के गुलाम हैं . . . किसी न किसी रूप में—गुलाम तो हम आज भी हैं . . . □

1402 बी, रेलवे कालोनी, श्रीनगर रोड अजमेर (राज.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहां

- कृष्ण गम्भीर

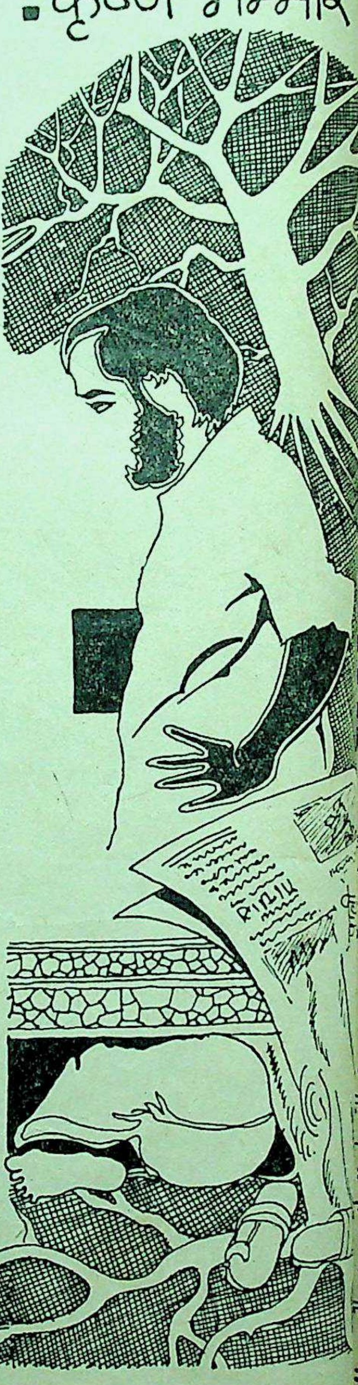

एक नया नाम

इस कमरे में उसकी मौजूदगी इस बात का निश्शंक-प्रमाण है कि इस वक़्त यहां उसके सिवाय और कोई नहीं है. वह यहां चुपचाप और गुमसुम-सा बैठा, बड़ी सतर्क-दृष्टि से कमरे का जायज़ा ले रहा है. लेकिन कोई भी राय कायम नहीं कर पाता. मसलन, वह इस कमरे की दीवारों को क्यों घूर रहा है? या इस घर की प्रत्येक वस्तु में ऐसी कौन-सी ग़ैरत है जो उसे यहां की किसी भी चीज़ के इस्तेमाल पर पाबंदी आयत कर रही है?

वह सोफ़े पर कुछ इस लिहाज़ से बैठा है कि उसका सारा वज़न उस पर न पड़े. उसके पांव भी कालीन पर इस ढंग से पड़े हैं कि जैसे पानी पर चलने का योग रचा रहे हों.

हुंह्! ऐसा भी क्या है? वह निस्संग-भाव से सोचने की कोशिश करता है. पर वह खुद को खुद से इतनी दूर पाता है कि अपने भीतर झांक नही पाता. इस अंतराल में एक चिरंतन, अब एक खामोश-उत्पीड़ना सी व्याप गयी है. उसे अपने होठों और हालात के बीच असमर्थता की लकीर खींची दिखती है, जो घुटन और घुटन के अतिरिक्त कुछ बयान नहीं करती. उसे अपने भीतर जड़ होने का अहसास तेज़ी से होने लगता है. वह चिहुंक उठता है. पर उसका आत्म-विद्रोह मुंह-ही-मुंह में घुटकर रह जाता है. वह बेदम-सा अपने को सोफ़े पर यकदम ही ढीला छोड़ देता है और उसकी सांसें धौंकनी की तरह चलने लगती हैं.

पूरी सदी की घुटन और ट्रेजडी उसके चेहरे पर छायी ज़र्दी में उतर आती है. अपने को भुलावे दे-देकर बची-खुची सांसों के चिथड़े कब तक संभाले वह? जिस आस से बंधकर वह भाई के पास चला आया था, वह ढुलमुल होती दिखती थी. वह सोच रहा था—यहां से भी चल दे कहीं! पर कहां? यही तो पता नहीं.

पिछले सप्ताह जब मां से झगड़ा हुआ था तो गुस्से में कह दिया था उसने, "कहीं भी चला जाऊंगा पर इस घर में नहीं रहूंगा."

"कहां जायेगा तू?"

"कहीं भी चला जाऊंगा! कुछ भी कर लूंगा! इतना गया-गुज़रा तो नहीं कि अपने वास्ते दो रोटियां भी न कमा सकूं!"

"जिसे आराम की खाने को मिल जाती हो, वह कहां जायेगा और क्या करेगा?"

"मैं आराम की खाता हूं? सारा दिन जो दुकान पर खटता हूं, उसकी कोई गिनती नहीं?" वह अपने ही सोच के शीशों से घायल होकर रह गया था. उसकी आवाज़ में अब वो शिद्दत नहीं थी अपितु एक सवाल उठ खड़ा हुआ था—उसके अहम् से टकराता! तब उसे लगा था—कि वह सचमुच बेकार है! अपने लेखे तो वह चाहे सुबह छः बजे से रात दस बजे तक बाऊजी के साथ खोखे पर चाय की जूठी प्यालियां धोता रहता था. बेकारी की यातना को भूलने का कोई तो बहाना था, अब तक! लेकिन आज मां की इस लताड़ ने उसके इस भ्रम को भी तोड़ दिया था और वह अपना बिस्तर गोल कर भाई के पास दिल्ली आ गया था. सोचा था, भाई को कहेगा—'कहीं भी एडजस्ट करवा दो, बस!'

▣

लेकिन जिस उत्साह और चाव से वह प्रतिवर्ष छुट्टियों में दिल्ली आया करता था—जाने वह कहां मर गया था? ज्यों-ज्यों घर निकट आता जा रहा था, उसकी चाल धीमी होती जा रही थी. वह सोचने लगा था—व्यर्थ ही चला आया है. क्या कहेगा वह? क्यों आया है? किसलिए आया है? एक बार तो उसने सोचा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह लौट जाये.

पर लौटकर भी कहां जाये? यह 'कहां' उसे जीवन के प्रत्येक चौराहे पर शाश्वत् प्रश्नचिन्ह की तरह प्रत्येक चेहरे पर चिपका दीखता. जिसे देखो अपने जैसा लगता है—सवालिया सलीब उठाये! वस्तुतः जीना समस्याओं के हल के लिए होता है लेकिन जब जीना ही समस्या बन जाये तो?

पर भाई के ख़याल ने उसके डूबते दिल को सहारा दिया जैसे! उसका विश्वास था, वह उसके लिए कुछ-न-कुछ ज़रूर करेंगे. कहीं न कहीं बात बन ही जायेगी. यही सोचते-सोचते वह भाई के घर पहुंच ही गया था.

▣

उसे देख किसी ने उत्साह नहीं दिखाया. वह 'ड्राइंग-रूम' में बैठा 'वीकली' देखने का उपक्रम कर रहा था. वह प्रतीक्षा कर रहा था, भाभी उसके लिए कोई सोने की जगह निश्चित करेंगी. पर उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह स्वयंमेव इतना संकुचित और अंतर्मुखी क्यों होता जा रहा है? पहले वह आया करता था तो अपनी जगह स्वयं निश्चित कर लेता था. पर अब उसे अपनी सोच र बर्फ़-सी जमी लगी. जब लगभग र के सभी सदस्य सो गये तो उनींदी-सी ाभी आयी और पूछा, "तुम कहां ाओगे?"

"कहीं भी!"

"ऐसा करो, आज यहीं सो जाओ. र मेज़ हटाकर, कालीन पर चादर छा लो. देखो अल्मारी से कंबल भी काल लो. ले-लोगे या मैं ही निकाल ..."

"नहीं, मैं ले लूंगा."

"चादर भी वहीं से ले लेना."

"ले लूंगा."

भाभी जैसे गले में पड़ा ढोल बजाकर ो गयी थी. वह हैरानी से सोच रहा —पहले वह भाभी से कैसे छत्तीस तरह बातें कर लेता था. यों और वों जाने नी तरह से भाभी को घुमाया करता तब भाभी मुस्कराहट के फूल चेहरे खिलाकर कहा करती थी, "बहुत न हो गये हो तुम!" तो उसकी छाती भी दो इंच फालतू फूल जाया करती थी. लेकिन आज उसकी वो शरारतें, वो मुस्कराहटें कौन छीन कर ले गया है?

वह कालीन पर कंबल लेकर पड़ गया लेकिन इस बीच उसकी नींद कुछ उचट-सी गयी थी. वह सोच रहा था—अब क्या करे? एकाएक किसी का ख़याल आने से उसके हृदय का कोई अनबूझ कोना निर्झर-सा बहने लगा था. किसी के प्रेम की कसक उसे कतरा-कतरा पिघलाने लगी थी. उसने सोचा—वह सरोज को एक ख़त लिख दे. "एकाएक वहां से चला आया हूं. यहां तक कि तुमसे मिल भी न सका. किस्मत ने साथ दिया तो जल्दी-ही तुम्हारे और अपने बीच की दूरी तय कर डालूंगा. इंतज़ार करोगी?"

पर सहसा उसे लगा—उसके कमरे का जलता बल्ब 'भाई-भाभी' के बैडरूम को कुछ नंगा कर रहा है. उसने जल्दी से उठकर बत्ती बुझा दी और कंबल में लगभग सांस रोककर दुबक-सा गया. भाई और भाभी कुछ फुसफुसा रहे थे.

"सुख यहीं रहेगा?"

"यहीं रहेगा?"

"आपने कुछ पूछा नहीं उससे?"

"नहीं तो. कुछ कहा उसने?"

"मुझे सीधे तो नहीं कहा. पीलू से कह रहा था कि यहीं रहूंगा."

"अच्छा! उसके लिये कहीं ट्राई करनी पड़ेगी अब?"

"वो तो ठीक है. पर इतनी मेहरबानी करना कि दिल्ली से बाहर ही कहीं लगे! .....ये न हो कि यहीं जमकर बैठ जायें और......?"

सुख को लग रहा था, दीवार और अंधेरे के पर्दे के बावजूद भाई-भाभी के चेहरे उसकी आंखों के सामने नंगे नाच रहे हैं. मन ही मन खोखले हो चुके संबंधों का भारीपन ढोए, वह खड़े-पानी में पड़े किसी पत्थर की तरह सुगबुगाता रहा.

▣

सुबह जब उसकी आंख खुली तो भाभी कुछ झल्ला-सी रही थी, "सात बज गये हैं. काला अभी तक दूध दे के नहीं गया. इधर पीलू की बस आने वाली है. उसे क्या नाश्ता करवा के स्कूल भेजूं? किसी को है फ़िकर? सूरज मुंह पर कानतें भेज रहा है और ....."

"मैं ले आता हूं दूध! वहीं पहले वाली जगह से आता है न?"

"हां ऽ!" और इस 'हां' ने उसके ज़हन में अनगिनत, अनसुलझे सवालों का जाला-सा बुन दिया था. वह दिन भर एक कमरे से दूसरे कमरे के बीच पेंडुलम की तरह लटकता रहता. लेकिन अपने लिए एक भी ऐसा कोना ईजाद नहीं कर पाता, जिसे अपना कह सकता! जहां मानसिक-तनाव से मुक्त होकर अपने ही बारे में कुछ सोच-विचार सकता. यहां आये आज उसे तीसरा दिन हो चला था पर भाई को अपने मुंह कुछ भी न कह सका था. पीलू को पढ़ाने के बहाने वह रात को भाई के कमरे में बैठा रहा. शायद भाई कुछ पूछें? भाई अपनी किसी 'केस फाइल' में उलझे थे. तभी भाभी दोनों हाथों में दूध के दो गिलास लेकर आयी. एक भाई को और दूसरा पीलू को थमा दिया.

"सुख को भी ला दो न?"

सुख का मन भी हो आया, दूध पीने को. याद ही नहीं पड़ता, कब दूध पिया था पिछली बार! लेकिन ऊपरी-मन से बोला, "नहीं-नहीं, मेरे लिए दूध नहीं."

"क्यों?"

"सुख रात को दूध नहीं पीता."

जाने किस अतीत को कुरेदती हुई भाभी तीर की तरह बोली थी. सुख एकदम पथरा गया. कुछ नहीं बोल सका वह! बस पीलू की किताब में दृष्टि गड़ा दी—चुपचाप! काफ़ी देर तक वह गुमसुम-सा, निरर्थकता में अर्थ खोजता बैठा रहा, जैसे किसी ने उसे श्राप देकर पत्थर बना दिया हो!

▣

"सुख एक गिलास पानी तो ले आओ."

"पानी?" वह हड़बड़ाकर बोला और तेज़ी-से लपककर रसोई में से पानी ले आया. शायद पानी का गिलास लेते हुए भाई कुछ पूछें! किसी बात का सिलसिला जुड़ जाये........

"क्या करते रहते हो सारा दिन घर में?" वह कुछ सहम-सा गया. 'एक बेकार आदमी कर ही क्या सकता है?'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने पूछना चाहा लेकिन बेहद शर्मिंदगी से बोला, "जी कुछ नहीं."

"तो जरा चेंबर ही आ जाया करो. कुछ लोगों से जान-पहचान हो जायेगी तो तुम्हारे ही काम आयेगी न? घर बैठे-बैठे तो कोई अप्वायंटमेंट नहीं दे जायेगा."

गूंगे के मुंह में जैसे गुड़ की डली आ गयी हो! यानि कि भाई को उसकी चिंता है. कहीं न कहीं उसके लिए उपयुक्त स्थान और अवसर खोज रहे हैं. नौकरियां कोई आगे तो पड़ी नहीं होतीं! वह सिर हिलाता बाहर चला आया था. उसके अंदर आत्महीनता का बढ़ता बौनापन कुछ देर के लिए कम हो गया था.

▣

परंतु भाई के दफ़्तर में भी अपने को व्यस्त रखने के उपक्रम के बावजूद बेकार होने के कयास को मस्तिष्क से निकाल न सका था. वह हर पल अपने खालीपन के भार को ढोए-ढोए स्वयं को गधा समझने लगा था. दफ़्तर में ऐसा कोई काम था भी नहीं, जो वह करता! भाई दोपहर बाद कोर्ट से लौटते. इस बीच कोई फोन वगैरह अटेंड करना होता था. पर यह काम भी क्लर्क अधिक तत्परता से कर सकता था. क्योंकि वह क्लाइंट्स आदि से परिचित था. वह ठीक-से बतला सकता था—उनके केस की अगली तारीख कौन सी पड़ी है? या भाई सुप्रीम-कोर्ट से केस निबटाकर हाई-कोर्ट जायेंगे या वे सीधे चेंबर लौटेंगे आदि-आदि.

जल्दी ही उसने इन कामों में रुचि लेनी शुरू की. और एक दिन उसने सोचा, भाई को कहेगा—मैं ही सारा काम देख लूंगा, ऑफ़िस का! यों ही क्लर्क को तीन सौ रुपये लुटाने का क्या फायदा? जबकि घर का आदमी ..... वह यह ज़िक्र भाभी के सामने ही करेगा. भाभी ज़रूर हामी भर देगी. पर एकाएक इस तरह क्लर्क के बेकार हो जाने के ख़्याल ने उसे चौंका दिया.

▣

इधर क्या है कि चेहरे पर हर वक्त बारह बजे रहते हैं. वह प्रयत्न करने पर भी स्वयं को सहेज नहीं पाता. कोई भी पहली नज़र में यही पूछ बैठता है, "सुख, क्या बात है? बीमार हो?"

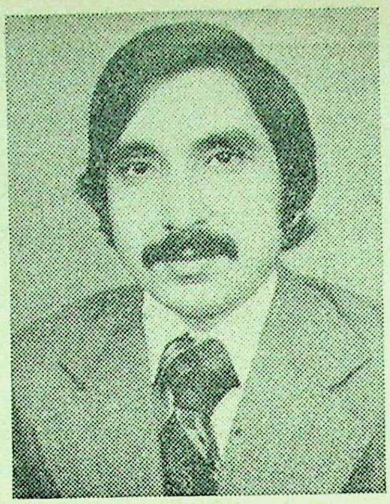

कृष्ण गंभीर (जन्म 15 सितं[बर] 1953) के अनुसार उन[का] लेखन विकास की उस प्रक्रिया [में] है जहां जीवनगत-संघर्ष, कर्म ए[वं] विश्वास को आस्था के चिह्[न] दीखने लगे हैं और यह व्यक्तिग[त] तकलीफों तथा विसंगतियों [की] सीमा तोड़कर सामाजिक-[द्वंद्व] के रूप में प्रतिबिंबित होने [को] व्यग्र हैं.

इससे सुख को अनजाने में ही दुःख पहुंचता. 'जो भी मिलता है, मुंह पे यही सवाल दे मारता है! क्या कसूर है मेरा? नहीं चाहिए मुझे किसी की सहानुभूति! कैसे बे-चेहरा हो, हमदर्दी का लबादा ओढ़ विवशता का शोषण करना जानते हैं लोग! और बदले में सारी आर्द्रता लूट लेना चाहते हैं. क्यों? .....

..... थोड़ा सामान्य होकर वह फ्रिज में से पानी की बोतल निकालने लगता है कि 'फ़रूट-बास्कट' में रखे डैलीशियस सेबों की खुशबू उसके नथुनों से टकराती है. वह सेब उठाने के लिए हाथ बढ़ाता ही है कि अचानक भाई साहब कमरे में आ जाते हैं.

"तुम यहां हो?"

वह कुछ घबरा-सा जाता है. शीघ्रता से 'फ़रूट बास्कट' से हाथ खींचकर पानी की बोतल निकाल लेता है और फ्रिज को बंद कर देता है.

"ठंड नहीं है. यहां?"

उसके चेहरे का रंग कांप जाता है. जैसे वह कोई चोरी करते रंगे हाथों पकड़ा गया हो! कोई जवाब देने की बजाय वह पानी की बोतल भाई के आगे ला-लाकर, प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है कि वह फ्रिज में से पानी ही ले रहा था, अन्य कुछ नहीं.

"सुनो, थोड़ी देर में बाहर लॉन में चाय ले आना और कुछ खाने को भी. रसोई में भाभी बुला रही हैं तुम्हें! अच्छा!"

वह घुग्गू की तरह गर्दन हिला दे[ता] है. भाई के जाते ही वह पानी की पू[री] बोतल गटक जाता है. खुद को अप[नी] दृष्टि में बेगुनाह साबित करने के लिए [भी] पर उसका मन हल्का न हो सका था.

▣

वह भारी-भारी कदमों को घसीट[ता] हुआ रसोई की ओर जाने लगा [था]. वह डर रहा था—भाभी कहीं पूछ [ही] न ले? क्या कह रहा था अंदर? वह अप[ने] चेहरे से ऐसी सभी लकीरें मिटा देने [की] कोशिश कर रहा था, जो किसी भी तर[ह] की शंका से आवृत्त थीं.

"तबीयत ठीक हो न हो, रसोई में आ[कर] मरो. किसी को है पीर? छोटे से बड़े त[क] सभी हुक्म दागते फिरते हैं. चाहे को[ई] मरता मर जाये—इनकी बला से. कोई चिड़ी को चोंच भर नमक न[हीं] डालेगा! ......"

"आपकी तबीयत ठीक नहीं है." सुख ने भाभी से संवेदना-स्तर पर जु[ड़ने] का प्रयत्न किया.

"तुम रहते हो घर में?" सुख का जैसे सांस ही घुट गया. वह अपने स्व[भाव] के बोझ से लदा-फदा सोच रहा था— 'क्या मैं सचमुच रहता हूं घर में? [...] तो फिर, कहां रहता हूं? कहां—' उसने अपने चेहरे को अपने चेहरे [के] सामने खींच, अपना चेहरा खोजने [की] कोशिश की.

162/7, सीवन बाज़ार, कैथल 132[...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगला अंक

पाक्षिक

सारिका

फरवरी अंक : एक

आदमी आख़िर है क्या?

स्वयंभू या सर्वहारा? देवता या राक्षस? नेकी का पुतला या बदी का बुत्त? भोला-भाला या शातिर? चोर या लाचार?

दर्शन, धर्म, राजनीति हमेशा इसे 'दूसरा सवाल' कहकर टाल जाते हैं, पर इतिहास गवाह है कि साहित्य ने इसे हर बार और ...और अधिक स्पष्ट किया है. इस बार पढ़िए इन्हीं मानव-मूल्यों का सर्वेक्षण करती—

शेखर जोशी, शिव शर्मा, रघुवीर सिन्हा, लोचन बख्शी, आलोक महता और रमेश बत्तरा की कहानियां.

मील का पत्थर

- निर्मल वर्मा द्वारा प्रस्तुत कारेल चापेक की कहानी—दूसरी ज़िंदगी

रोज़नामचा

- एक नया कथा-स्तंभ : कथाकार से. रा. यात्रा का साहित्य चिंतन

साक्षात्कार

- श्री नरेश मेहता ने कमस्कम अपने और अपने साहित्य के बारे में कम से भी कम कहा है. उनके साहित्य और जीवन के विविध पहलुओं पर **कमल किशोर गोयनका** से लंबी अंतरंग बातचीत.

ताकि सनद रहे

- एक बाग़ी का आतम-मंथन—दूसरी किस्त
- ज़रिया-नज़रिया, पखवारे की पुस्तक, लघुकथाएं, आज की संपूर्ण स्थिति और लेखन, तस्वीर बोलती है आदि सभी स्थायी स्तंभों सहित

सारिका : घर और पुस्तकालय का स्थायी महत्व!

न धूल, न धुआं, न आग, न विस्फोट ... फिर भी कंपन!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पखवारे की पुस्तकें

मानव मूल्यों का गहरा विश्वास!

■ ममता कालिया

हिंदी साहित्य में 'लोग' सतत शोध का विषय रहा है. 'उखड़े हुए लोग', 'बीच के लोग', 'लोग', 'अपने लोग', 'लोग बिस्तरों पर' की शृंखला में शेखर जोशी के सद्य प्रकाशित कहानी-संग्रह का शीर्षक है 'साथ के लोग'. शेखर जोशी की नयी-पुरानी चौबीस कहानियों का यह संग्रह इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है कि एक तो इसमें उनकी सभी चर्चित कहानियां शामिल हैं. दूसरे उनका पहला कहानी-संग्रह 'कोसी का घटवार' बाज़ार में अब ढूंढे से भी नहीं मिलता है.

प्रस्तुत पुस्तक में शेखर की यादगार कहानी 'कोसी का घटवार' भी है. सन् छप्पन में, जब यह कहानी पहले-पहल छपी थी, पाठक एक साथ चौंके और प्रभावित हुए थे. आज, दो दशक बाद, भी यह रचना वही प्रभाव छोड़ती है. इसकी प्रामाणिकता ज़रा भी पीली नहीं पड़ी है. पूरी कहानी की करुण एकसूत्रता पाठक को गहन उदासी से भर जाती है. मेरी नज़र में यही शेखर जोशी की समस्त रचनाओं का स्थायी-भाव है. वे एक साथ जीवन के उदात्त व उदास क्षणों को बड़ी सरलता से अभिव्यक्ति प्रदान करते चलते हैं. वे जीवन की सामान्य स्थितियों के असामान्य व्याख्याता हैं. नागार्जुन, भीष्म साहनी, अमरकांत की भांति उनका रचना-संसार भी मनुष्य के नीरस संघर्षमय जीवन का चंद ज़रूरी सवालों से साक्षात्कार कराता है. इनसे कोई बहुत बड़ी क्रांति रातों-रात तो घटित नहीं होती लेकिन अन्यायी की कुर्सी अवश्य कुछ और कच्ची हो जाती है. 'सीढ़ियां', 'मेंटल', 'आखिरी टुकड़ा' में लेखक ने अपनी धारणा सीधे-सीधे व्यक्त की है कि एकांत क्षणों में आततायी का अपना चेहरा भयानक नहीं भयाक्रांत होता है, कि उसकी समस्त गतिविधियां इसी भयाक्रांतता से जन्म लेती हैं. इन कहानियों से मज़दूर एक मशाल है और मालिक एक अंधकार. संग्रह तीन खंडों में विभक्त है. बिचले खंड 'सीढ़ियां' की पांचों कहानियां लेखक की प्रगतिशील प्रतिबद्धता का प्रामाणिक दस्तावेज़ हैं.

रेन्च-हथौड़ी-पेचकस की दुनिया

इसी खंड में शेखर जोशी की एक और अविस्मरणीय कहानी है—'उस्ताद'. यदि हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों का कोई संकलन कभी निष्पक्षतापूर्वक निकाला जाये, तो निसंदेह 'उस्ताद' उसमें शीर्ष स्थान पाये. मज़दूर की हैसियत से लिखी यह कहानी अपनी प्रबुद्धता, प्रामाणिकता, प्रतिभा व प्रतिबद्धता में सचमुच बेजोड़ है. मानव-मूल्यों में गहरा विश्वास, मजदूरों के 'दारुण नीरस जीवन' की असली पहचान, समाज के सौतेले बेटों से गहरी हिस्सेदारी, सब इस कहानी में अपनी पराकाष्ठा पर है. एक नौसिखिया मिस्त्री अपने धंधे का पुर्जा-पुर्जा समझने के लिए फैक्टरी के फोरमैन 'उस्ताद' की शागिर्दी करता है. उस्ताद उसे रोज़ थोड़ा-थोड़ा काम सिखाते हैं लेकिन वह अभी कच्चा है. अन्य कारीगरों के भड़काने से उसे शक होने लगता है कि उस्ताद अपना पूरा हुनर उसे नहीं देना चाहते, तो हर बार 'वॉलटैमिंग' के समय उसे चाय लाने क्यों भेज देते हैं. एक दिन उसका शक, आक्रोश बनकर व्यक्त हो

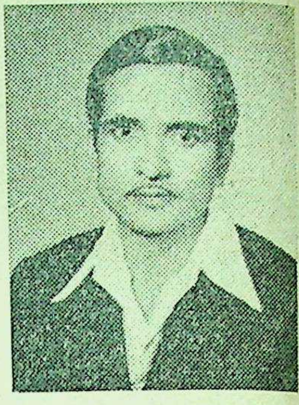

शेखर जोशी

जाता है. बाकी घाघ कर्मचारियों को इस स्थिति से काफ़ी मनोरंजन होता है. मिस्त्री और उस्ताद की बोलचाल बंद हो जाती है. फिर नौसिखिए मिस्त्री को शहर-बाहर सरकारी नौकरी मिल जाती है. रात का वक़्त है. गाड़ी चलने ही वाली है कि उसे एकाएक उस्ताद अपनी तरफ़ आते दिखायी देते हैं. वॉलटैमिंग बांक... बताकर वे तुरंत मुड़ जाते हैं, सिखतड़ नौजवान के भावातिरेक से अनजान... ग्रीज़, तेल, कालिख, रेन्च, हथौड़ी-पेचकस की दुनिया से निकाली गयी यह भावुक सच्चाई पाठक को झकझोर कर रख देती है. नये मिस्त्री का अपने टूल-बक्स पर बैठ जाना, मोटर के नीचे से कारीगर का बिल्ली की तरह निकलना, मैली चीकट डांगरी पहन इंजन बांधना... और इस तरह के सारे चित्र इस कहानी में इतना गर्म, घनिष्ठ और गरिमामय बना देते हैं कि मन होता है लेखक को एक नया नाम दिया जाये—'शिखर जोशी'!

वैधव्य और विपन्नता

ठीक इससे अलग संवेदना की कहानियां पहले खंड 'दाज्यू' में हैं. इस दृष्टि से संग्रह वैविध्य बहुल है. जीवन के राग-विराग, रूप-विरूप, शुभ-अशुभ को ... के लिए लेखक की अन्तर्दृष्टि प्रखर... 'कोसी का घटवार' में जीवन की ... का कारुणिक किन्तु यथार्थवादी ... है. यों तो इसके मूल में एक नि... मामूली-सा प्रतिघात है, गुसाईं का ... से ब्याह न हो पाना. ब्याह न हो पाने का कारण है, लक्ष्मा के बाप नहीं चाह...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी बेटी एक सिपाही से ब्याही जाकर हर समय वैधव्य की संभावना से अभिशप्त रहे. विवाह-संबंध में उनकी समस्त चौकसी के बावजूद लक्ष्मा विधवा हो जाती है. वैधव्य और विपन्नता का बोझ साथ-साथ ढोते उसका गुसाईं से आकस्मिक साक्षात्कार अभूतपूर्व करुणा की उत्पत्ति करता है. इस स्थल पर लेखक की सूझ-बूझ अद्भुत है. यद्यपि दोनों प्रेमी बाधा-हीन हैं, उनका संयोग अब भी नहीं हो पाता है क्योंकि अब बाधा है 'समय.' पनचक्की की-सी ही एकरसता में बंधे दोनों प्रेमी अब प्रेम की स्थिति से परे अपनी-अपनी गर्दिश के दिन जैसे-तैसे काट रहे हैं. प्रेम की यह अनिवार्य परिणति एक नियति की तरह गुसाईं और लक्ष्मा को ग्रस लेती है.

किशोरावस्था की करवटें

लेकिन तीसरे खंड 'मृत्यु' की कहानियां इस प्रकार की कोई अछूती अनुभूति नहीं दे पातीं, वरन् निराश ही करती हैं. वास्तव में ये कुछ एकांतिक किस्म की कहानियां हैं, जिनमें किशोरावस्था अभी करवटें लेती लगती है. इनमें मां, दीदी, प्रिया के अति भावुक शब्दचित्र हैं. मेरे ख़्याल से इन कहानियों का एक अलग संग्रह सन् अट्ठावन में ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था. ज़िंदगी की जो जकड़बंदी 'दाज्यू' व 'सीढ़ियां' खंडों में व्यक्त हुई है, उसका अपेक्षाकृत तरल रूप इस अंतिम खंड में मिलता है.

पुस्तक की प्रस्तुति सुंदर, सुरुचिपूर्ण है. दाम भी वाजिब हैं. पता नहीं समीक्षा के अंत में प्रूफ़ की भूलों पर टिप्पणी क्यों दी जाती है. 'साथ के लोग' में मैंने तो कहानियां पढ़ी हैं, प्रूफ़ नहीं! □

चर्चित पुस्तक :

साथ के लोग

▣ शेखर जोशी

प्रकाशक : संभावना प्रकाशन, हापुड़.

मूल्य : सोलह रुपये

अगले अंक में

शेखर जोशी की ताज़ा कहानी

'हलवाहा'

कथा आलोचना: कहां शुरू, कहां ख़त्म!

▣ डॉ. हरदयाल

"पश्चिमी कथा-साहित्य में चेखव ने कथा-शिल्प को एक नया मोड़ दिया. यद्यपि चेखव और जैनेंद्र दोनों की कथा-भूमियां अलग-अलग हैं—एक की कथा-भूमि मूलतः सामाजिक है, दूसरे की मूलतः मनोवैज्ञानिक. किंतु हिंदी में पहली बार जैनेंद्र ने ही चेखव के कथा-शिल्प को अपने ढंग से अपनाकर उसे कथानक की आरोह-अवरोहमयी नाटकीयता से मुक्त किया. कहानी अपनी नवीन मूलवर्ती चेतना के साथ अपनी संरचनात्मकता में नवीन हो उठी. जैनेंद्र में कहानी आद्यंत जीवित रहती है. पाठक उसके किसी एक बिंदु पर सिमटने का इंतज़ार नहीं करता. पूरी कहानी हल्की-हल्की आंच में तपती रहती है."

उस माहौल में जबकि प्रगतिशीलता के नाम पर आलोचना एकांगी, संकीर्ण और मतवादी हो रही हो, जैनेंद्र के संबंध में उपर्युक्त बात कहना ईमानदारी, निष्पक्षता का प्रमाण है. जबकि और समकालीन साहित्य को लेकर लिखी जाने वाली संतुलित आलोचना आज दुर्लभ वस्तु है. प्रायः तो यह होता है कि समकालीन आलोचना लिखने वाले जो रचनाकार होते हैं वे अपनी ही रचनाओं को आधार मानकर मूल्यांकन के प्रतिमान गढ़ते हैं; और प्रक्रिया में उनके द्वारा लिखी जाने वाली आलोचना न केवल भ्रामक हो जाती है अपितु भ्रांत निष्कर्षों पर पहुंचती है. इनके अतिरिक्त समकालीन आलोचना में जो शुद्ध आलोचक होते हैं वे भी व्यक्तिगत संबंधों और राग-द्वेषों से बहुत कम बच पाते हैं. फलतः उनकी आलोचना भी अपना संतुलन खो बैठती है. कुछ समकालीन आलोचक यदि व्यक्तिगत द्वेष या राग से अपने को बचा लेते हैं तो किसी आंदोलन, विचारधारा या मतवाद से अंधे हो जाते हैं.

डॉ. रामदरश मिश्र समकालीन हिंदी आलोचकों में ऐसे आलोचक हैं जिनकी आलोचना बहुत बड़ी सीमा तक संतुलित आलोचना है. उनकी आलोचना पूर्णतः संतुलित है, यह तो मैं नहीं कहूंगा. शायद शत-प्रतिशत संतुलन व्यवहार में संभव भी नहीं है—वह एक प्रत्यय की स्थिति हो सकती है.

सबसे पहले इस पुस्तक की संरचना को समझ लेना उचित होगा. इस पुस्तक का प्रारंभ एक तो सामान्य कहानी के प्रारंभ पर विचार करता है; और दूसरे, हिंदी की पहली कहानी पर. हिंदी की पहली कहानी के रूप में चर्चित कहानियों पर किंचित् विस्तार के साथ विचार किया गया है और यह साग्रह स्थापित नहीं किया गया है कि यही हिंदी की पहली कहानी है. बल उन प्रवृत्तियों पर दिया गया है जो पहली-पहली कहानियों के माध्यम से सामने आती हैं.

प्रेमचंद और प्रसाद परंपरा

दूसरे अध्याय में प्रेमचंद और परंपरा की चर्चा की गयी है. लेखक ने माना है कि मनुष्य की मूल सदाशयता में प्रेमचंद की आस्था थी. प्रेमचंद मानते थे कि मनुष्य जो बुरा बनता है वह परिस्थितियों के कारण. अतः प्रेमचंद ने मनुष्य की सदाशयता और दुष्टता दोनों को यथार्थ परिस्थितियों के माध्यम से समझने का प्रयत्न किया. अपनी इस स्थापना को प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने प्रेमचंद की कई कहानियों का विवेचन किया है. किंतु सबसे अधिक विवेचन 'कफ़न' कहानी का किया है. इसी अध्याय में विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा, वृंदावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि उन कहानीकारों की या तो चर्चा की गयी है, या मात्र नामोल्लेख जो प्रेमचंद की शैली के कहानीकार माने जाते हैं.

तीसरे अध्याय का संबंध जयशंकर प्रसाद और उनकी परंपरा से है. मिश्रजी की स्थापना है कि प्रसादजी अयथार्थवादी कहानीकार थे. उनकी "कल्पना का प्रेम पृथ्वी से दूर ऐसा जल-राज्य है जहां कठोरता नहीं, केवल शीतल, कोमल तरल आलिंगन है; प्रवंचना नहीं, सीधा आत्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताज़गी महसूस कीजिये
सुबूत अपनी आँखों से देखिये

पानी से भरी तश्तरी में थोड़ा सा कोयले का चूरा छिड़किये। अब थोड़ा सा बिनाका टॉप पानी में मिला लीजिये और इस घोल की एक बूँद तश्तरी के बीचों-बीच टपकाइये। अब देखिये बिनाका टॉप कितनी तेज़ी से चारों तरफ फैलता है.... मैल को दूर करता है और पानी की सतह को बिल्कुल साफ़ कर देता है।

बिल्कुल इसी तरह बिनाका टॉप का विशेष फैलने वाला तत्व आपके मुँह के हर कोने में फैल कर दांतों में सड़न पैदा करनेवाले कीटाणुओं का नाश करता है और साँस की दुर्गन्ध को रोकता है। बिनाका टॉप आपके मुँह की पूरी रक्षा करते हुए उसे ताज़गी से भर देता है।

शिबा·गार्गी

बिनाका टॉप
टूथपेस्ट

मुँह की पूरी रक्षा के लिए

ARMS-CBT-1-78-HN

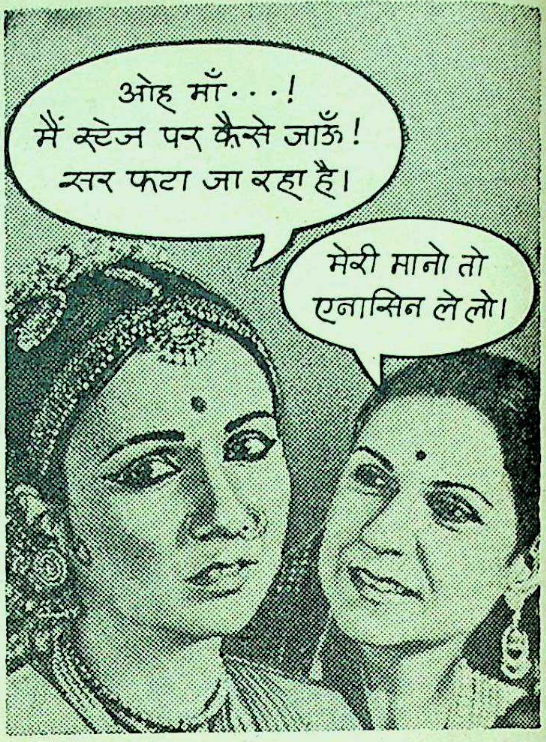

जल्द आराम पाने के लिए
तेज़ असर
और विश्वसनीय
एनासिन लीजिए

तेज़ असर–एनासिन में वह दर्द-निवारक दवा ज़्यादा है, जिस की दुनिया-भर के डॉक्टर सिफ़ारिश करते हैं। इसी लिए एनासिन दर्द से जल्द आराम दिलाती है।

विश्वसनीय–एनासिन आपके डॉक्टर की दवाई की तरह दवाओं का नपा-तुला सम्मिश्रण है। इसी लिए एनासिन पर लाखों लोगों को पूरा भरोसा है।

एनासिन बदन के दर्द, दाँत के दर्द, सर्दी-ज़ुकाम और फ़्लू की पीड़ा से भी जल्द आराम दिलाती है।

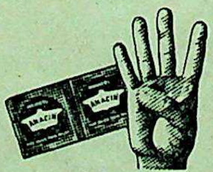

तेज़ असर और विश्वसनीय
मॅनर्स
एनासिन*

भारत की सब से लोकप्रिय दर्द-निवारक दवा
जेफ्री मॅनर्स के एनासिन विभाग की ओर से

*Regd. TM
A 23-7/78 h

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास है; वैभव नहीं सरल सौंदर्य है." उनकी अधिकांश कहानियों का संसार प्रेम-संसार है. उनका शिल्प काव्यात्मक और नाटकीय है. प्रसाद जी की 'आकाश-दीप' नामक कहानी की चर्चा उनकी प्रतिनिधि कहानी मानकर विस्तार के साथ की गयी है.

कहानी : नयी कहानी

परंतु प्रसादजी को आदर्शवादी कहानीकार तभी माना जा सकता है जबकि हम 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' नाम की कोई चीज न मानते हों. प्रसादजी की परंपरा में राय कृष्णदास, विनोदशंकर व्यास और चंडीप्रसाद हृदयेश का उल्लेख किया गया है. चौथे अध्याय का संबंध मनोवैज्ञानिक कहानी से है जिसमें जैनेंद्र और उनकी कहानी 'पाजेब', अज्ञेय और उनकी कहानी 'रोज' की विस्तृत चर्चा है तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाचंद्र जोशी और रामप्रसाद घिल्डियाल पहाड़ी की संक्षिप्त चर्चा है. पांचवें अध्याय में समाजवादी कहानी को लिया गया है. इस अध्याय में यशपाल और उनकी कहानी 'पराया सुख', उपेंद्रनाथ अश्क की विस्तृत चर्चा के उपरांत मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय राघव, नागार्जुन, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त का नामोल्लेख किया गया है. पुरानी पीढ़ी के कुछ कहानीकारों का मिश्रजी ने एक नया वर्ग बनाया है 'स्वतंत्र कहानी धारा'. इसमें उन्होंने पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर और राधाकृष्ण की चर्चा की है. इनमें कुछ कहानीकार ऐसे हैं जिनको किसी वर्ग विशेष में रखकर चर्चित किया जाता रहा है; जैसे 'उग्र' को प्रकृतवादी कहानीकार और प्रकृतवादी हिंदी कहानी का नेता माना जाता रहा है. हमारे विचार से यह गलत नहीं था.

'नयी कहानी' पर इस पुस्तक में दो अध्याय हैं—(1) नयी कहानी (2) नयी कहानी: यथार्थ के विविध आयाम. पूछा जा सकता है कि नयी कहानी पर दो अध्याय क्यों हैं, तो मिश्रजी के शब्दों में इसलिए कि—"नयी कहानी की मात्रा अपने आप में अत्यंत विशिष्ट है." नयी कहानी के साथ कहानीकार का कुछ

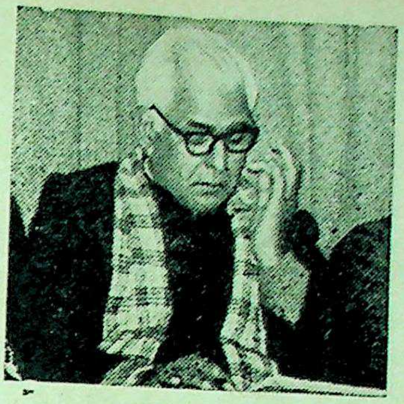

रामदरश मिश्र

पक्षपात है; शायद इसलिए कि स्वयं वह भी 'नयी कहानी' के अंतर्गत आते हैं. यह पक्षपात इस बात से भी पुष्ट होता है कि वह साठोत्तरी कहानी को 'नयी कहानी' का ही विकास मानते हैं. उन्होंने लिखा है कि "अलगाव की कुछ रेखाओं के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि साठोत्तरी कहानी, नयी कहानी का ही नये संदर्भों में विस्तार या विकास है. साठोत्तरी कहानी, कहानी में उस तरह कोई बदलाव उपस्थित नहीं करती जिस तरह नयी कहानी ने अपनी पूर्ववर्ती कहानी के संदर्भ में किया था. साठोत्तरी कहानी, नयी कहानी की बुनियादी बातों को लेकर ही भिन्न-भिन्न तरह से अपना विशिष्ट स्वरूप निर्मित करने की चेष्टा करती है." मिश्रजी की इस स्थापना से बहुत-से लोग असहमत होंगे. नयी कहानी के बाद साठोत्तरी कहानी और उसके अंतर्गत 'अकहानी', 'सचेतन कहानी' तथा 'आम आदमी की कहानी' की चर्चा की गयी है. पुस्तक के अंत में कुछ कहानीकारों की चर्चा की गयी है. चर्चित कहानीकार हैं—फणीश्वरनाथ 'रेणु', मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, महीप सिंह. चर्चा के लिए कहानीकारों को किस आधार पर चुना गया है या छोड़ा गया है, यह स्पष्ट नहीं है.

इस पूरी पुस्तक में आलोचक का बल यथार्थवाद पर है : यथार्थ के संबंध में उसका कहना है—"यथार्थ की पहचान, दो स्तरों पर होती है. एक तो समकालीन जीवन में लक्षित होने वाले संबंधों, प्रसंगों, समस्याओं, घटनाओं, हलचलों आदि की स्वीकृति के स्तर पर; दूसरे, इन समस्त संबंधों, प्रसंगों, समस्याओं, घटनाओं, हलचलों आदि के मूल में कार्य करने वाली केंद्रवर्ती चेतना की समझ के स्तर पर. वास्तव में असली यथार्थ दृष्टि इस दूसरे रूप में ही दिखायी पड़ती है." मिश्रजी मानते हैं कि "आज की समस्त जीवन-विषमताओं के मूल में आर्थिक विषमता है." समाज में जो परिवर्तन होते हैं उनका केंद्र परिवार है और "आज के समस्त परिवर्तन के मूल में प्रायः अर्थ ही है." अपनी इस जीवन-दृष्टि के आधार पर मिश्रजी ने अपनी पुस्तक में हिंदी कहानी का विवेचन किया है.

संतुलित कथा आलोचना

मिश्रजी दो कहानीकारों के पारस्परिक साम्य-वैषम्य को सूक्ष्मतापूर्वक पकड़ सकते हैं, इसके प्रमाण भी उनकी इस पुस्तक में विद्यमान हैं. एक स्थान पर जैनेंद्र और अज्ञेय की तुलना उन्होंने इस प्रकार की है—"जहां जैनेंद्र की कहानियां एक अत्यंत सावधान कहानीकार की आयासजन्य सहजता का आभास देती चलती हैं, वहां अज्ञेय की कहानियां एक सावधान कहानीकार की सावधानी और आयास की प्रतीति को भी आभासित करती चलती हैं. जहां जैनेंद्र अपनी बौद्धिकता को संवेदना में, आयास को सहजता में, सावधानी को लापरवाही में घुला-मिलाकर अपनी कहानियां अत्यधिक घरेलू बना देते हैं, वहां अज्ञेय की कहानियां एक बौद्धिक अभिजात व्यक्ति की तरह एक कसी हुई बौद्धिक दृष्टि, अनुभव वैशिष्ट्य, अध्ययन-संपन्नता और मितभाषिता में सतत सावधान दिखायी पड़ती हैं."

पारिभाषिक शब्दावली का कम-से-कम प्रयोग करने वाली सहज, सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखित यह आलोचना-पुस्तक पठनीय होने के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण भी है. □

चर्चित पुस्तक

हिंदी कहानी : अंतरंग पहचान

▣ डॉ. रामदरश मिश्र

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2

मूल्य : 20 रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखित शब्द के प्रति आस्था

पिछले दिनों एक लेख के कुछ तथ्य पढ़कर चौंक गया. ऐसे तथ्यों को भारत के संदर्भ में सुनने का हम सबने अभ्यास 'भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है' जैसे जुमलों की तरह कर लिया है, लेकिन जब ऐसे तथ्य अमरीका के बारे में एक प्रख्यात अमरीकी लेखक द्वारा आवें, तो चौंकना पड़ता है. वहां के जाने-माने कथाकार जॉन अपडाइक के अनुसार निरक्षरता को अमरीका से आज तक दूर नहीं किया जा सका, वहां 25 वर्ष से ऊपर आयु की आधी से अधिक जनसंख्या व्यवहार के स्तर पर लगभग निरक्षर है. इतना ही नहीं उसने न्यूयार्क टाइम्स में प्रकाशित एक सर्वेक्षण का हवाला देते हुए लिखा है कि "समूची आदमजात का दो बटा पांच हिस्सा तो आज भी निरक्षर है."

निरक्षरता का यह आलम देख कर 'हमारा प्यारा भारतवर्ष' थोड़ा और प्यारा लगने लगा है... कम से कम गया गुजरा तो नहीं ही लग रहा. इतना ही नहीं, अपडाइक के अनुसार अपने अंदर की बेचैनी को कागज़ पर उतारने के क्षणों तक पहुंचाने के लिए पहले लाखों-हजारों शब्द पढ़ने होते हैं, और जब इतने श्रम और इतनी आस्था के साथ लिखा हुआ पुस्तक के रूप में आता है तो पता चलता है कि वहां की 90 प्रतिशत से भी अधिक जनता कभी कोई किताब नहीं खरीदती. जो खरीदती है वह पढ़ने के काम को सबसे नीचे की श्रेणी में रखकर चलती है: "कल्पना कीजिए, किसी कमरे में कोई चुपचाप एक किताब पढ़ रहा है और उसी कमरे में दो व्यक्तियों में हाथापाई, मुक्का-लात शुरू हो जाये, तो लोग हाथापाई करने वालों में रुचि लेंगे या किताब पढ़ने वालों में? टेलीफोन की घंटी या किसी बच्चे का रोना तो ध्यान आकर्षित भले करेगा, पढ़ते हुए आदमी पर किसी का ध्यान जायेगा इसमें संदेह है."

इसके बाद भी लिखित शब्द के प्रति जॉन आपडाइक की आस्था देखकर आश्चर्य हो रहा है.

यह आश्चर्य तब और भी ब[ढ़] जाता है जब देखते हैं कि वहां 9[0] प्रतिशत से अधिक जनता किता[ब] नहीं खरीदती, फिर भी लिखि[त] शब्द के प्रति आस्था बरकरार है. क्या यह एक अजीब और नाटकी[य] स्थिति नहीं लगती कि लाखों [की] संख्या में किताबों के संस्करण [छप] रहे हैं, संस्करणों की आवृत्ति [हो] रही है और जनता खरीद न[हीं] रही. लाखों-करोड़ों डालर रायल[टी] जा रही है और लोग पढ़ने [को] प्राथमिकता नहीं दे रहे. कैसी

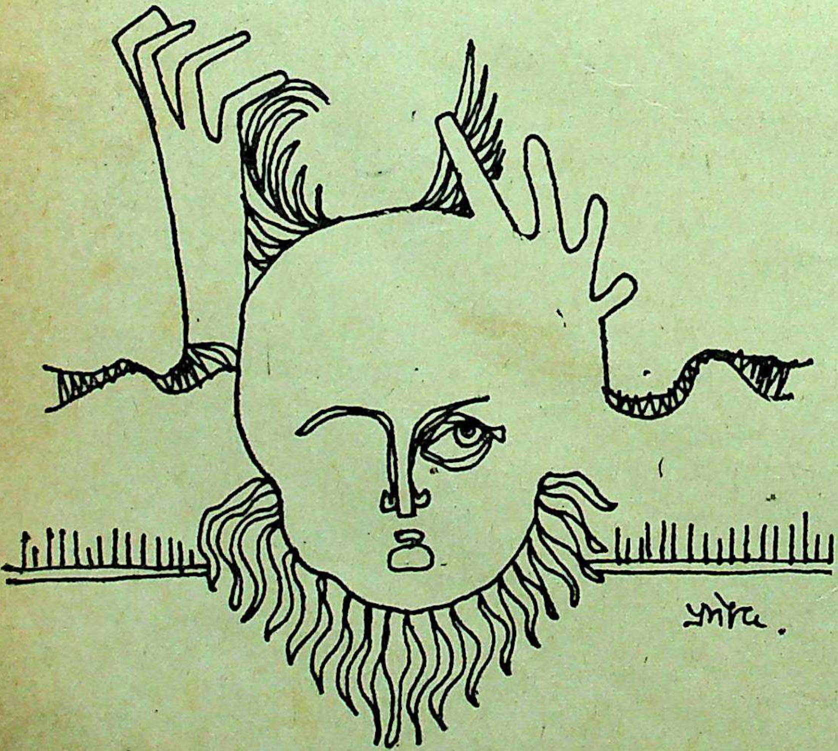

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़रिया-नज़रिया

यह आस्था, जो लिखित शब्द से चिपक कर रह गयी है? क्या ऐसी आस्था को एक 'मिथ' नहीं कहा जा सकता? क्या यह मात्र रूढ़ि और अंधविश्वास बनकर नहीं रह गयी? क्या इस आस्था की नियति अंततः धार्मिक विश्वासों जैसी नहीं हो जायेगी? कहीं-न-कहीं ऐसे विश्वासों और आस्थाओं का संबंध भौतिक असुरक्षा की भावना से होता है.

जॉन अपडाइक की यह अवधारणा पश्चिमी देशों के लिए व्यवहार के स्तर पर बहुत कुछ सही हो सकती है लेकिन रोज़मर्रा की ज़रूरतों से जूझती हुई तीसरी दुनिया की जनता इस अवधारणा को इसी रूप में नहीं ले सकती. वह आज भी धार्मिक आस्थाओं में सुरक्षा ढूंढ़ती है. यह सुरक्षा की तलाश एक आदिम सत्य है.

'लिखित शब्द के प्रति आस्था' की स्थिति हमारे यहां अधिक चिंताजनक है. इसके कारण हैं 'शब्द' के द्वारा फैलाये हुए भ्रम. एक ओर शब्द को ब्रह्म कहकर उसे अगम्य और दुरूह बना दिया गया है अर्थात् उसे लोक जीवन से काटकर अलौकिकता की अदृश्य आलमारियों में बंद करने की कोशिश की गयी है. दूसरी ओर 'पुस्तकस्थातु या विद्या' के रूप में अव्यावहारिक घोषित कर दिया गया है और तीसरी ओर माया-वादियों ने 'नहि, नहि रक्षति डुंकिकरणे' के रूप में मृत्यु के सामने उसे कमज़ोर और वाहियात साबित करने की कोशिश की है. इसी तरह की 'शब्द' के खिलाफ़ और भी बहुत-सी स्थितियां खड़ी की गयी हैं जो एक दूसरे की विरोधी होकर भ्रमों को जन्म देती हैं और आदमी को उसकी अपनी ज़िंदगी से काटकर अलग कर देती हैं. फिर भला 'लिखित शब्द' के प्रति आस्था कहां टिकेगी? यदि उसे हम पुरानी बात कह कर नज़रअंदाज़ भी कर जायें और आज के संदर्भों में तलाश करें तब भी हमारी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियां हमारे अंदर अनिर्णय, अनिश्चय और शंकाओं को लगातार भरती जा रही हैं. हम स्वभावतः शंकालु होते जा रहे हैं. और शंकाएं आस्था की हत्या करती हैं, उन्हें पैदा नहीं करतीं.

'शब्द' के प्रति पैदा हुई शंकाएं हमें सतर्क, सावधान और जागरूक भले ही करें, उसके प्रति आस्थावान नहीं बना सकतीं. आस्थावान होने के लिए उसके सही इस्तेमाल, निश्चित अर्थ की प्रतीति और उसके कारगर असर की ज़रूरत होती है और यही बातें हमारे 'लिखित शब्द' में काफ़ी हद तक ग़ैरहाज़िर हैं. हम बातें चाहे कितनी ही करें लेकिन 'शब्द' के भाववादी और रूपवादी इस्तेमाल से अपने आपको बचा नहीं पा रहे. मेरा मतलब यह नहीं कि हम ऐसा जानबूझकर कर रहे हैं बल्कि स्थितियां हमें ऐसा करने के लिए मजबूर कर रही हैं. ऐसा इसलिए भी हो रहा है क्योंकि हम अपनी रूढ़ियों, परंपराओं और मध्यवर्गीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं.

हिंदुस्तान की ज़मीन से जुड़कर ऐसा कहना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है, लेकिन यह एक सच्चाई है और किसी भी सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता. जहां कदम-कदम पर आस्था बैठी हो, जहां पैर से सिर तक, दिये से सूर्य तक, छोटे-से जलकुंड से सागर तक और पेड़-पौधों से पत्थर तक आस्था फैली हो यानी कि चारों ओर आस्थाओं की भीड़ जुड़ी हो, वहां अनास्था की बात कैसे की जा सकती है? लेकिन यह आस्थाओं की भीड़ ही अनास्था की सही पहचान है क्योंकि भीड़ किसी चीज़ का सही स्वरूप नहीं बताती, क्योंकि भीड़ का अपना कोई रूप नहीं होता, क्योंकि भीड़ एक भाववादी स्थिति है, इसलिए वह किसी निश्चित और सही आस्था को जन्म नहीं दे सकती.

जॉन अपडाइक यदि हिंदुस्तान में 'लिखित शब्द के प्रति आस्था' का सर्वेक्षण करें तो शायद उन्हें अपनी और अपने यहां की यह 'आस्था' भी डगमगाती नज़र आने लगेगी. हो सकता है तब वे अपनी इस अवधारणा को ग़लत होता हुआ महसूस करें.

उनकी सुविधा के लिए उनके समकालीन कथाकार लेज़ली फीडलर के शब्द उद्धृत कर रहा हूं: "मैं अपडाइक की तरह समूचे लिखित शब्द संसार की बात नहीं करता, लेकिन इतना ज़रूर जानता हूं कि 'ओ के लिटरेचर' गर्वोन्नित, उच्चभ्रू साहित्य मर रहा है, मरता जा रहा है. क्योंकि वह सीधे सीधे जीवन से कटा हुआ है"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

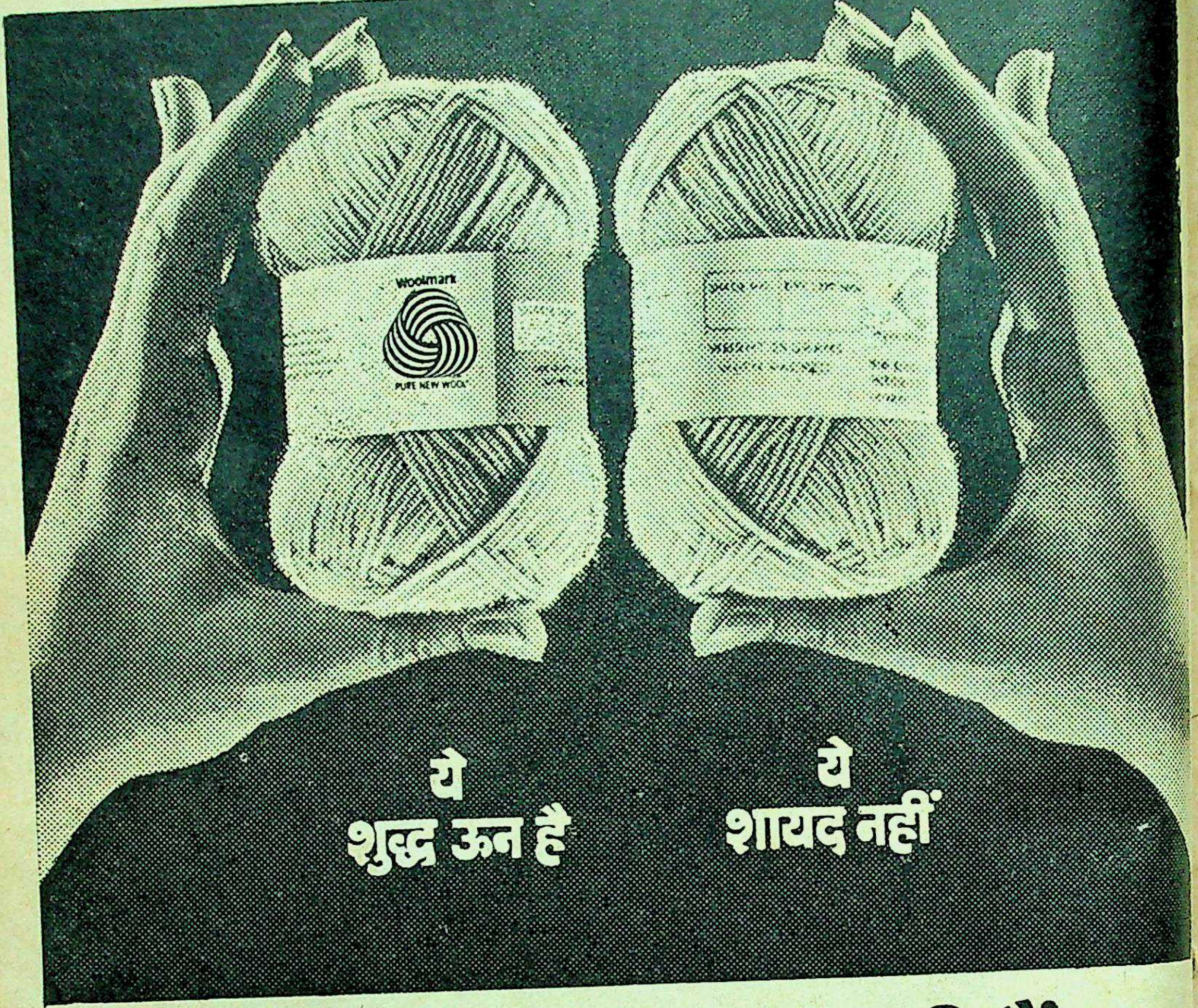

आप कौन सी खरीदती रही हैं?

दरअसल, आजकल बहुत से बुनाई के धागे ऊनी न होते हुए भी ऊनी का लेबल लगाकर, ऊनी के रूप में बेचे जा रहे हैं. अगर आप बुनाई के लिए शुद्ध, मिलावटरहित पक्के रंगवाली रंगबिरंगी ऊन खरीदना चाहें तो उस पर वूलमार्क अवश्य देख लें. वूलमार्क शुद्ध, नयी ऊन का विश्वास दिलाता है.

Woolmark
(वूलमार्क)
PURE NEW WOOL

बंगाल के
वूलमार्क
बुनाई के धागे
कई आकर्षक
रंगों में मिलते हैं.

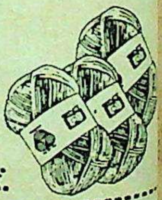

वूलमार्क.
शुद्ध, मिलावटरहित ऊन का विश्वास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

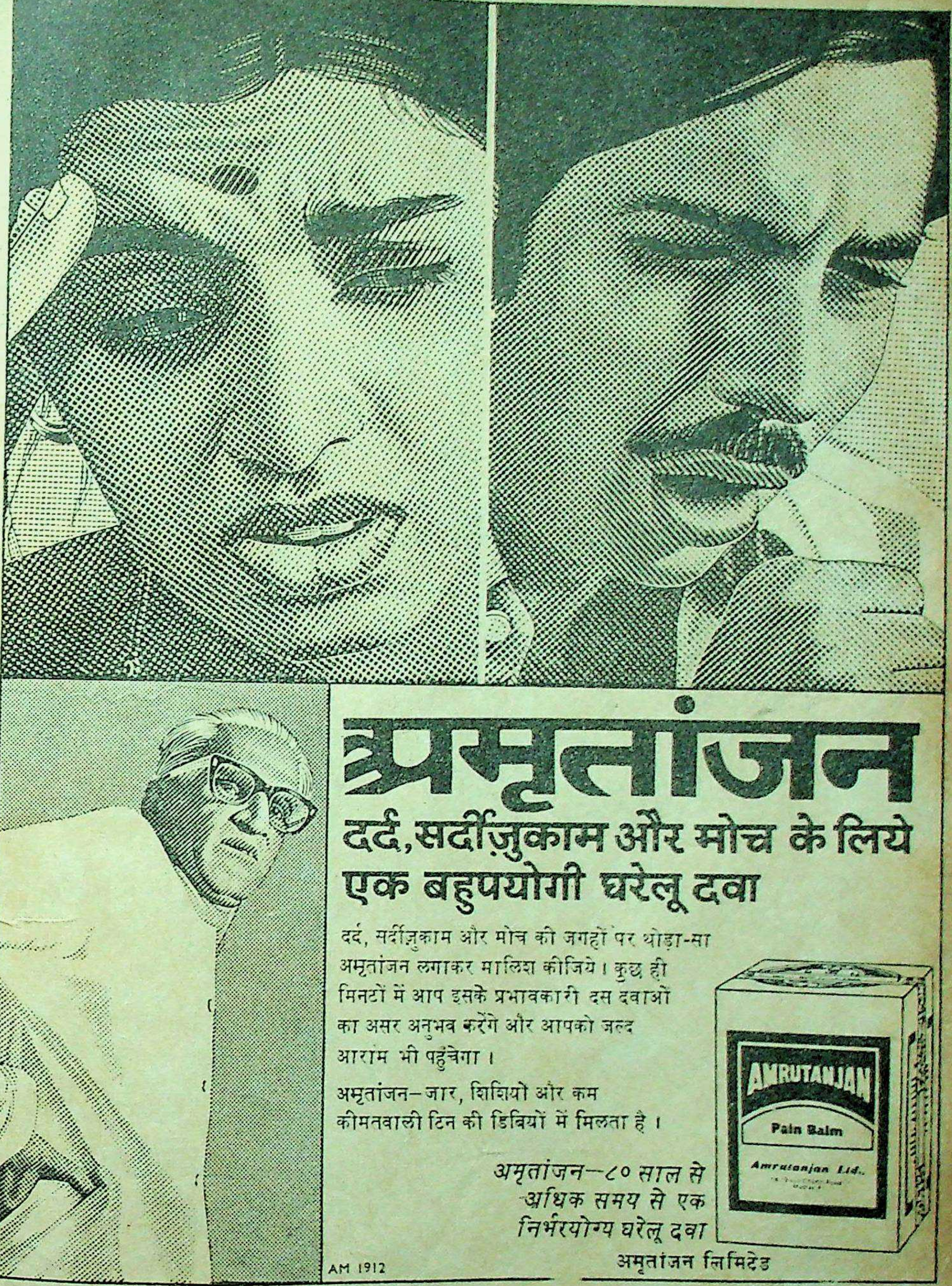

बैनेट, कोलमैन ऐंड कंपनी लिमिटेड, स्वत्वाधिकारी के लिए रमेशचन्द्र द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 में मुद्रित व प्रकाशित. जनरल मैनेजर : डॉ. राम तरनेजा. पंजीकृत कार्यालय : डा. दादाभाई नौरोजी रोड, बंबई-400001. शाखाएँ : 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002; 139, आश्रम रोड, अहमदाबाद-380009; 105/7ए, एस. एन. बनर्जी रोड, कलकत्ता-700014. कार्यालय : 13/1, गवर्नमेंट प्लेस ईस्ट, कलकत्ता-700069; 15, मोंटियथ रोड, इग्मोर, मद्रास-600008; 407-1, तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411002; 26, स्टेशन एप्रोच, सडबरी, वेंबले, मिडिलसेक्स, लंदन, यू. के., लंदन टेलीफोन : 01-903-96..

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजीयत सं. D-(C)-779
पूर्व शुल्क के बिना डाक में डालने के, अनुमति-लाइसेंस सं. U-89

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar